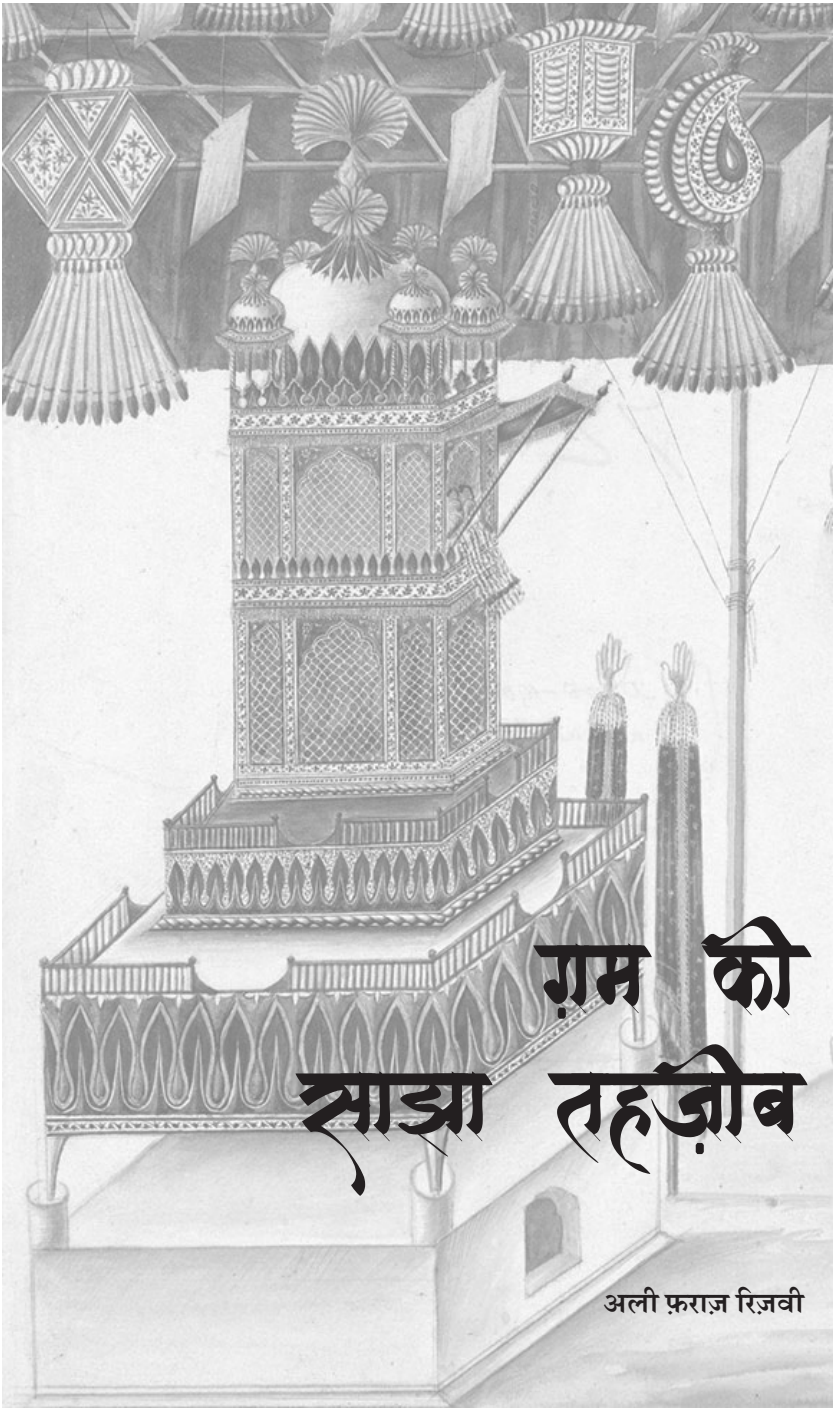

ग़म को साझा तहज़ीब

अली फ़राज़ रिज़वी

पुस्तिका सीरीज़–104

प्रकाशक
इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी
फ्लैट नंबर-110, नम्बरदार हाउस,
62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067
टेलीफोन - 011-26177904 टेलीफैक्स - 011-26177904
ईमेल - prakashan.isd@gmail.com, वेबसाइट - isd.net.in

कॉपीराइट © : इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी, 2024

प्रकाशन वर्ष - 2024

सर्वाधिकार सुरक्षित। प्रकाशक की लिखित पूर्वानुमति के बिना इस शोध-पुस्तिका या इस शोध-पुस्तिका के किसी भी अंश को न तो पुनःप्रकाशित किया जा सकता है और न ही किसी भी अन्य तरीके से, किसी भी रूप में इसका व्यावसायिक उपयोग किया जा सकता है।

ग़म की साझा तहज़ीब

[पटना में मुहर्रम की मिली-जुली बहुसांस्कृतिक तारीख़]

ख़याल ए रहगुज़ार ए रफ़्तग़ां है
ये दिल है और ग़ुबार ए कारवां है

तुम्हें अब एतेबार आए न आए...

हिंदुस्तान एक ऐसे दौर से गुज़र रहा है जहां हक़ीकतों और कहानियों के दरमियान फ़ासले घटते जा रहे हैं। तारीख़ झुठलाई जा रही है और मनगढ़ंत क़िस्से सच्चाई की सेज पर सजाए जा रहे हैं। इन हालात में बहुत ज़रूरी है कि हम बार-बार इस मुल्क की गंगा-जमुनी तहज़ीब की दास्तानें दोहराएं और लोगों को एहसास दिलाते रहें कि इस तारीख़ी तहज़ीब की हिफ़ाज़त की ज़िम्मेदारी हमारे कांधों पर है।

यह वही तारीख़ी तहज़ीब है जो इस बदलते दौर में इस क़दर अजनबी हो गई कि लोगों ने इस हक़ीक़त को ढोंग का नाम दे दिया। वही मिली-जुली गंगा-जमुनी तहज़ीब जो हिंदुस्तानी समाज का आईना है। इस आईने में हिंदुस्तानी मुआशरे के तमाम रूप-रंग मौजूद हैं। कहीं मुस्कुराहट, कहीं ग़म, कहीं खुशियां, कहीं आंसू, मगर यह सब क़िस्से मालूम पड़ते हैं। यह क़िस्से दरअसल एक ऐसी हक़ीक़त की यादगार हैं जिस हक़ीक़त को चाह कर भी झुठलाया नहीं जा सकता।

इस हक़ीक़त का ज़िक्र मुख़्तलिफ़ लोगों ने मुख़्तलिफ़ अंदाज़ में किया और खुशियों और त्योहारों को गंगा-जमुनी तहज़ीब के आईने में पेश किया मगर इस तहज़ीब का एक और अहम पहलू जो ग़म का पहलू था, निगाहों से ओझल होता रहा। वक़्त के साथ-साथ इस मिली जुली तहज़ीब को सिर्फ़ और सिर्फ़ दिल्ली और लखनऊ जैसे शहरों के साथ जोड़कर देखा गया और न जाने कितनी बस्तियां, कितनी आबादियां, कितने शहर कहीं गुम हो के रह गए।

अगर कहा जाए कि बिहार की राजधानी, इस गंगा जमुनी तहज़ीब का एक अहम मरकज़ ही नहीं बल्कि आख़िरी यादगार भी है तो लोगों के दिमाग़ में एक सवालिया निशान अपने आप पैदा हो जाएगा। और हो भी क्यों ना? पटना जिसे हेरिटेज और कल्चर के इर्द-गिर्द घूमती बातों से अलग-थलग रखा गया अगर उस शहर को हिंदुस्तान की मिली-जुली तहज़ीब का आईना कह दिया जाए तो ताज्जुब होना बड़ी आम सी बात है।

पटना जो एक लंबे समय तक अज़ीमाबाद के नाम से जाना गया यह आज भी गंगा-जमुनी तहज़ीब के तमाम पहलुओं के साथ, ग़म की साझा तहज़ीब को अपने सीने पर सजाए, मुहर्रम के महीने में एक भूले बिसरे अफ़साने के बचे-खुचे बोसीदा पन्नों की तरह उभरता है।

पटना की तारीख़ में मुहर्रम कभी भी सिर्फ शिया समुदाय के लोगों तक सीमित नहीं था | पटना वालों के लिए महुर्रम एक साझा संस्कृति का नाम था। हम सुनते आये हैं कि ख़ुशी में तो हर इंसान आपके साथ खड़ा होता है मगर आपका अपना वही है जो आपके ग़म में आपके पास मौजदू हो। पटना का मुहर्रम इस बात का सबूत है कि लोग एक दूसरे के दुःख में, तकलीफ़ में, एक साथ खड़े होते थे। और यही वजह थी के मुहर्रम, मज़हब की बंदिशों से निकल कर एक तहज़ीबी सांचे में ढल गया।

मौजूदा हालात को देख कर इस बात का यक़ीन करना ज़रा मुश्किल तो है, मगर अब भी पटना के मुहर्रम में मुसलमानों के साथ-साथ हिंदुओं का शरीक होना इस बात की गवाही देता है कि पटना अपनी तारीख़ नहीं भूला। मगर ज़रूरी ये है कि तारीख़ के पन्नों में धूल खाते उन क़िस्सों को, उन कहानियों को खंगाला जाए और दोबारा से लोगों के सामने साझा संस्कृति और तहज़ीब की मिसाल बना कर पेश किया जाए।

फ़ेहरिस्त

क्र.सं. ..... पेज सं.

1. मुहर्रम - एक मुख़्तसर तारीख़.....
2. हिंदुस्तान में अज़ादारी .....
3. एक गुमशुदा बस्ती - मुहर्रम के आईने में .....
4. अज़ीमाबाद में अज़ादारी के मरकज़ .....
5. माज़ी के झरोखों से .....
6. भूले-बिसरे लोग .....
7. यादगार ए बज़्म ए मातम–डॉ. नथुनी लाल वहशी .....
8. ग़ुबार ए कारवां .....
9. रंग और रूप की महफ़िलों से दर्द-ओ-ग़म की मजलिसों तक .....
10. अज़ीमाबाद की साझी विरासत में मुसलमानों का हिस्सा .....
11. मौजूदा दौर में पटना का मुहर्रम - कुछ यादें कुछ बातें .....

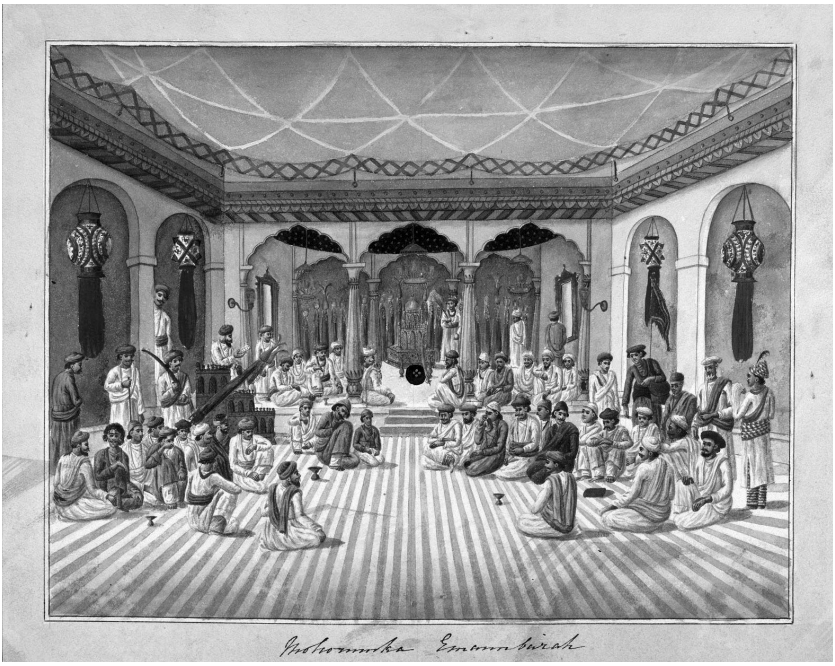

इमामबाड़ा, पटना (बिहार)

(1)

मुहर्रम - एक मुख़्तसर तारीख़

ख़ुशा वो लोग जो आए हैं बज़्म ए मातम में
ख़ुशा वो हाथ जो पीटे हुसैन के ग़म में
वो दिल हो ख़ाक न हो जिस में अहल-ए-बैत का ग़म
वो आँख फूटे जो रोई न हो मुहर्रम में
–लाला मातादीन श्रीवास्तव हशमती अज़ीमाबादी

आज से तक़रीबन 1400 बरस पहले, हिंदुस्तान से कई हज़ार मील दूर इराक़ में दरया-ए-फ़ुरात के किनारे मौजूद एक उजाड़, सुनसान इलाक़ा–कर्बला। पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद को इस दुनिया से गुज़रे 50 बरस बीत चुके हैं और इन पचास सालों में उनकी बेटी फ़ातिमा, उनके दामाद अली, और बड़े नवासे हसन को एक के बाद एक बेरहमी से क़त्ल कर दिया गया है, और अब अरब के तख़्त-ए-हुकूमत पर बैठा यज़ीद, पैग़म्बर मोहम्मद की आख़िरी यादगार, उनके छोटे नवासे हुसैन के क़त्ल के मंसूबे बनाने में व्यस्त है।

हुसैन, सरकारी साज़िशों से परेशान, ख़ून-ख़राबे की नौबत को टालते हुए अपने वतन यानी शहर ए मदीना को ख़ैरबाद कहते हुए, खानदान और कुछ क़रीबी दोस्तों के साथ मक्का की तरफ जाने का इरादा करते हैं। मक्का में भी साज़िशों की भनक पा कर इराक़ के शहर कूफ़ा की राह इख़्तेयार करते हुए आगे बढ़ते हैं। कूफ़ा वही शहर है, जहाँ कुछ बरस पहले इनके

पिता हज़रत अली को नमाज़ के बीच क़त्ल कर दिया गया था, और अब इसी शहर के लोगों ने हज़ारों की तादाद में ख़त लिख कर हुसैन को अपने पास बुलाया है। हुसैन कूफ़ियों के इन ख़ुतूत के जवाब में अपने चचेरे भाई मुस्लिम इब्ने अक़ील को कूफ़े की तरफ रवाना करते हैं। अभी हुसैन कूफ़ा नहीं पहुंचे थे कि रास्ते में मुस्लिम के क़त्ल की खबर आयी, ये भी पता चला कि कूफ़ियों ने फिर एक बार धोखा दिया, और अब मुस्लिम का कटा हुआ सर कूफ़े के दरवाज़े पर लटका, हुसैन का इंतज़ार कर रहा है। हताश-निराश हुसैन अपने भाई के ग़म में चूर, राह में थे के यज़ीद की फ़ौज ने उन्हें चारों तरफ से घेर लिया। यज़ीद की इस फ़ौज के सिपहसालार हुर ने हुसैन को अपने साथ कर्बला चलने पर मजबूर किया और हुसैन भी जंग टालते हुए अपने क़ाफ़िले के साथ कर्बला जाने को राज़ी हो गए।

मुहर्रम की दूसरी तारीख़ को हुसैन अपने घर वालों और कुछ क़रीबी दोस्तों के साथ कर्बला पहुंचे, चौथी तारीख़ को यज़ीद की तरफ से और फ़ौजें आयीं, सात मुहर्रम तक फ़ुरात पर पहरे बिठा दिए गए और हुसैन और उनके क़ाफ़िले वालों पर पानी बंद कर दिया गया। तीन रोज़ भूख और प्यास की शिद्दत में गुज़रने के बाद मुहर्रम की दसवीं तारीख़ को हुसैन अपने 72 साथियों के साथ–जिनमें उनका छः महीने का बेटा अली असग़र भी शामिल था–क़त्ल कर दिए गए, उनकी बे-कफ़न लाशों को कर्बला की तप्ती रेत पर छोड़ कर उनके घर की तमाम औरतों को बंदी बना लिया गया।

जो क़ज़ा गले से मिलती तो लिपट के उससे सोते
न कोई उठाता लाशा न कोई मज़ार होता
–बाबू अवध बिहारी सिंह बेदिल मुज़फ्फ़रपुरी (अज़ीमाबादी)

ज़ालिम यज़ीद का साथ न देकर, उसकी मुख़ालेफ़त में हुसैन की ये क़ुरबानी उन्हें अमर कर गयी और अब हुसैन का नाम ज़ुल्म के ख़िलाफ़ संघर्ष का पर्यायवाची बन चुका है।

कर्बला के उजाड़ सुनसान मैदान में हुसैन को क़त्ल कर के अरब का ख़लीफ़ा यज़ीद इब्ने माविया चाहता था कि ये बात हमेशा-हमेशा के लिए दबा दी जाए मगर जैसे-जैसे वक़्त गुज़रा, कर्बला की दास्तान, मज़हब-ओ-मिल्लत की बंदिशें, क़ौम और मुल्क की सरहदें तोड़ती हुई इंसानियत के दिल में घर कर गयी।

यही दास्तान-ए-कर्बला और इमाम हुसैन की शहादत का ग़म धीरे-धीरे अज़ादारी के रूप में ढल गया और अरबी कैलेन्डर का पहला महीना मुहर्रम, हुसैन के ग़म से मंसूब हो गया।

मुसलमानों के दरमियान शिया समुदाय ने अपनी ज़िम्मेदारी समझते हुए इस अज़ादारी को अपनी ज़िन्दगी का मक़सद बनाया, और जब इस समुदाय के लोग अरब, ईरान, और दीगर मध्य एशियाई मुल्कों से पलायन कर के हिंदुस्तान आए तो अपने साथ अज़ादारी की इस रिवायत को भी हिंदुस्तान ले आये और फिर अज़ादारी हिंदुस्तानी ज़बान, संगीत, शायरी, तौर-तरीक़े, और रंग-ढंग में कुछ इस तरह से ढली कि कर्बला और हिंदुस्तान के बीच की दूरी न के बराबर रह गयी।

(2)

हिंदुस्तान में अज़ादारी

सलामी क्या कोई बेकार है जी से गुज़र जाना
हयात-ए-जावेदां है शाह के मातम में मर जाना

न आता हो जिन्हें राह-ए-हक़ीक़त से गुज़र जाना
हुसैन इब्ने अली से सीख लें वो लोग मर जाना

ग़म-ए-आल-ए-नबी मुमकिन नहीं दिल से उतर जाना
न भूलेंगे किसी का हम जवां होते ही मर जाना

मिटाने से किसी के नाम मिट जाए अभी क्यों कर
अभी तो रंग लायेगा शह-ए-बेकस का मर जाना
–हकीम छन्नू मल देहलवी

अज़ादारी, इमाम हुसैन के ग़म के साथ-साथ अपने वक़्त की हुकूमत, बादशाह, ख़लीफा, और हर क़िस्म के ज़ुल्म के ख़िलाफ़ एक एहतेजाज, एक विद्रोह का ज़रिया बन गई।

यही वजह थी कि अरब और मध्य एशियाई मुल्कों की हुकूमत ने अपने-अपने दौर में

अज़ादारी को दबाने और हुसैन की शहादत को छुपाने की पूरी कोशिश की और इसके नतीजे में शिया समुदाय के लोगों और इमाम हुसैन का ग़म मनाने वालों पर अक्सर ज़ुल्म ढाए गए और उन्हें क़त्ल किया गया। जब यह अत्याचार हद से गुज़रने लगा तो शिया समुदाय के लोगों ने तक़इआ एख़तयार किया। हरचंद कोशिशों के बाद जब कोई और सूरत नज़र नहीं आई तो फिर ऐसी हालत में लोगों ने एक ऐसी जगह की तलाश शुरू की जहां की ज़मीन अम्न-पसंद और उनके लिए साज़गार थी।

यह तलाश हिंदुस्तान की सरहदों पर आकर ख़त्म हुई। कहा जाता है कि जब हुसैन चारों तरफ से घिर चुके थे और और जंग के सिवा कोई चारा न था तो इस वक़्त हुसैन ने हिंदुस्तान जाने की बात कही थी। इसके अलावा हिंदुस्तान से एक और रिश्ता भी था, इस रिश्ते की जड़ें ब-यक-वक़्त कर्बला और हिंदुस्तान में पैवसत थीं। मशहूर है कि "जब राहब दत्त को इमाम हुसैन की शहादत की खबर मिली तो वह अपने चंद साथियों के साथ हुसैन की मदद को गए और उनकी मोहब्बत में अपनी जान दी। रहाब दत्त का ताल्लुक़ मोहियाल ब्राह्मण खानवादे से था और इस खानदान के लोग आज भी फ़ख्र से खुद को हुसैनी ब्राह्मण कहते हैं"।[1]

जवाहरलाल नेहरू यूनिवर्सिटी में हिस्ट्री की प्रोफेसर नोनिका दत्त ने पाकिस्तानी लेखक इंतज़ार हुसैन साहब को हुसैनी ब्राह्मणों की पहचान बताई थी। उन्होंने कहा था की हर हुसैनी ब्राह्मण की गर्दन पर एक निशान होता है जो इस बात का सबूत है कि वह उन ब्राह्मणों की यादगार है जिनकी गर्दनें कर्बला के मैदान में काट दी गईं थीं।

"हुसैनी ब्राह्मण खानदान में जब किसी बच्चे का जन्म होता है तो तमाम रस्मों के साथ मुंडन की एक अहम रस्म निभाई जाती है। इस रस्म में रिवाज के मुताबिक सर के बाल उतारे जाते हैं और फिर उस बच्चे की गर्दन पर छुरी कुछ इस तरह से फेरी जाती है की उम्र भर गर्दन का वह निशान इस बात की गवाही दे कि वह बच्चा हुसैनी ब्राह्मण है और उसके गले का निशान हुसैन के कटे हुए गले की यादगार है।"[2]

जब शिया समुदाय के लोग अपनी जान बचाकर दिल्ली आए तो इन लोगों ने दिल्ली में कई मोहल्ले आबाद किये।" ग़यासुद्दीन बलबन के दौर में यह मोहल्ले आबाद थे लेकिन फिरोज़ शाह तुग़लक़ के ज़माने में इन्हें तोड़ दिया गया। निज़ामुद्दीन औलिया के जमाने में भी अज़ादारी के सबूत मिलते हैं।"[3]

हिंदुस्तान में हुकूमतों और इलाक़ों के हिसाब से हालात बदलते रहे, दक्कन में बहमनी सल्तनत, इमाद शाही, कुतुब शाही, और आदिल शाही बादशाहों ने शिया समुदाय की तरफ़दारी की और अज़ादारी को उरूज दिया।

"दक्षिणी हिंदुस्तान में मुहर्रम जिस तरह मनाया जाता है उसका आग़ाज़ उस ज़माने में हुआ जब दक्कन की सल्तनतों पर मुगलों ने हमले शुरू कर दिए थे। मुगलों से बचाव के लिए इन सल्तनतों ने बेहतर समझा कि मराठों को अपने साथ मिला लिया जाए। मराठों की क़राबतदारी की वजह से यहां के मुसलमानों पर मराठी तहज़ीब का असर हुआ और लोगों ने मराठी रस्मों को एख़तयार किया।"[4] "दक्कन में मुहर्रम और अज़ादारी की जो मख़सूस रिवायत है वह मराठी तहज़ीब और हिंदू रस्म-ओ-रिवाज के सांचे में ढल कर तैयार हुई है।"[5]

उत्तरी हिंदुस्तान में भी यही नज़ारा देखने को मिला। "मुगल बादशाह मिर्ज़ा नसीरुद्दीन मोहम्मद शाह रंगीला के जमाने में अज़ादारी के हवाले से उर्दू की पहली किताब कर्बल कथा लिखी गई।"[6]

मुसलमानों के साथ-साथ अहल-ए-हुनूद (हिंदू) भी बड़े ख़ुलूस और जोश-ओ-खरोश के साथ इमाम हुसैन की अज़ादारी एक लंबे समय से करते चले आ रहे थे। औरंगज़ेब के बेटे और उसके बाद मुग़ल सल्तनत के तख़्त पर विराजमान होने वाले बादशाह कुतुबुद्दीन मिर्जा मोहम्मद मौअज़म बहादुर शाह प्रथम के ज़माने का क़िस्सा है–मशहूर इतिहासकार ख़ाफ़ी ख़ान लिखते हैं की "1120 हिजरी की 10वीं मुहर्रम की रात जब सब मुसलमान और हिंदू इमाम हुसैन की याद में सजाए गए ताबूत और ताज़िए की गश्त में व्यस्त थे तो इस वक़्त मौक़ा पाकर पाप राय 2000-3000 प्यादों और 400-500 सवारों को लेकर वारंगल के क़िले पर हमलावर हुआ।"[7] ख़ाफ़ी ख़ान के इस लेखन से यह बात साबित हो जाती है कि हिन्दुस्तान में हुसैन का ग़म 18 वीं सदी ई. तक हिंदुओं और मुसलमानों के बीच मज़हब की क़ैद से परे एकता और यकजहती की तर्ज़ पर मनाया जाता था।

हिंदू मुक़र्रिर या वक्ता तक़रीर करते, जो शायर थे वह अपनी शायरी के ज़रिए हुसैन के ग़म में शरीक होते, मातम करते और अपने आंसुओं के ज़रिए हुसैन की शहादत को याद करते। अज़ादारी में जहां एक तरफ़ धर्म और मज़हब का फ़र्क़ मिटा वही ज़ात की बंदिशें भी टूटीं। न यह कि सिर्फ़ पिछड़ा तबक़ा बल्कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और यहां तक कि बड़े-बड़े राजा

महाराजा भी अज़ादारी मैं शरीक होते। "ग्वालियर, इंदौर, भरतपुर, बड़ौदा और बनारस के महाराजाओं और दूसरे हिंदू हुकुमरां अज़ादारी करने में मशहूर रह चुके हैं।"[8]

सिख क़ौम के लोग भी ताज़ियादारी में शरीक होते आए हैं। "महाराजा शेर सिंह के बड़े ताज़िए का लाहौर में रखा जाना और उसका गश्त करना एक तारीख़ी हक़ीक़त है।"[9] मशहूर सैयाह अब्दुल लतीफ़ बिन अबू तालिब शुस्त्री ने भी हिंदुओं की इस अक़ीदत और मोहब्बत से की जाने वाली ताज़ियादारी और अज़ादारी का तज़किरा अपनी किताब 'तोहफ़तुल-आलम' में जयनगर के राजपूतों के सिलसिले में किया है।

मराठा भी बाक़ी क़ौमों की तरह ताज़ियादारी और अज़ादारी करने में पीछे नहीं रहे। वह बड़ी अक़ीदत और मोहब्बत के साथ ताज़िए उठाते रहे और इमाम हुसैन को याद करते रहे। सर थॉमस ड्यूमर का कहना है कि "बड़े ताज्जुब की बात है कि मुहर्रम में इन दोनों क़ौमों (हिंदुओं और मुसलमानों) के बीच फसाद या दंगे हों क्योंकि बहुत से हिंदू खुद अज़ादारी में हिस्सा लेते हैं।"[10]

जहां इससे एक तरफ़ यह बात साबित होती है कि अज़ादारी, क़ौमी एकता और यकजहती की मिसाल बनकर हिंदुस्तान में उभरी, वहीं हिंदुस्तानी शायरों के कलाम में इमाम हुसैन से मोहब्बत और अक़ीदत के जाम छलकते नज़र आते हैं।

हैं मातमे शब्बीर में गिरयां आंखें
रहती हैं शब-ओ-रोज़ दुर-अफशां आंखें
मिलता है सवाब इनको गोहर-बारी से
हैं राहबर ए जादा ए ईमां आंखें
–राय सिद्धनाथ बली फ़िराक़ी

अगर बात सिर्फ़ यहां पर रह जाती तो यूं लगता कि यह सिर्फ एक रस्म या रिवाज या एक रिवायत की पास्दारी है मगर हिंदू अज़ादारों और शायरों ने इस्लामी कट्टरपंथ और फ़िरक़ा-परस्त लोगों को जवाब भी दिया जिनकी नज़र में हुसैन की शहादत का ग़म इस्लामी विचारधारा के विरुद्ध था।

यह बात जानना जरूरी है कि जब शिमर इब्ने ज़िलजोशन, हुसैन की गर्दन काटने के लिए

उनके सीने पर सवार हुआ तो किसी ने उससे पूछा कि क्या तुझे रसूल का कोई लिहाज़ नहीं कि तू मुसलमान होते हुए रसूल के नवासे और इमाम की गर्दन काटने जा रहा है? इसके जवाब में शिमर ने अपने सर पर बंधी हुई पगड़ी उतारी और उसके अंदर रखा हुआ एक पर्चा निकालकर उस इंसान के हवाले कर दिया। इस पर्चे पर हुसैन के क़त्ल का फ़तवा था जिस पर उस वक़्त के 200 मौलवियों की मोहरें लगी हुईं थीं।[11]

हिंदू शायरों ने यह मोर्चा भी संभाला और अज़ादारी के ख़िलाफ़ बोलने वाले मौलवियों और कट्टरपंथियों को अपने क़लम से जवाब दिया।

निकलें जो ग़मे शह में वह आंसू अच्छे
इस ग़म में परेशां हों जो गेसू अच्छे
रखते हैं हुसैन से जो काविश, पंडित
ऐसे तो मुसलमानों से हिंदू अच्छे
–पंडित ईश्वरी प्रसाद पंडित देहलवी

हिंदू शायरों ने कट्टरपंथियों को जवाब भी दिया और इस बात का भी एहसास दिलाया के हुसैन के क़ातिल मुसलमान थे।

पाबंद ए शरीअत नहीं गो लक्ष्मण
हिंदू हूं मगर दुश्मन ए शब्बीर नहीं हूं
–मुंशी लक्ष्मण दास

अज़ादारी या इमाम हुसैन के ग़म ने किसी को भी अपने धार्मिक मूल्य से समझौता करने पर विवश नहीं किया। हिंदू हिंदू ही रहे, अपने तमाम रीति, रिवाज और संस्कारों के साथ, मगर जब हुसैन का नाम आता तो आंखें अपने आप डबडबा उठतीं। हिंदू शायरों ने अक्सर अपनी शायरी में इस बात का इक़रार किया।

है हक़-ओ-सदाक़त मेरा मसलक साहिर
हिंदू भी हूं शब्बीर का शैदाई भी
–राम प्रकाश साहिर

ज़ाहिर सी बात है कि अगर मुहर्रम और हुसैन का नाम लोगों के दिल में इस तरह से घर कर गया तो ये उनके दिल की नरमी और मोहब्बत के साथ-साथ उस वक़्त के बादशाहों, नवाबों, राजाओं, जागीरदारों और ज़मींदारों की कोशिशों का नतीजा भी है।

मुग़ल सल्तनत के आख़िरी ज़माने तक, हिंदुस्तान में अज़ादारी के कई गढ़ बन चुके थे, जहां अपने-अपने अंदाज़ में हुसैन का ग़म मनाया जाता था। दिल्ली और लखनऊ का नाम आज तक अज़ादारी के हवाले से लिया जा रहा है और 1857 के ग़दर के बाद भी लखनऊ ने अपनी इस पहचान को बरक़रार रखा।

लखनऊ के नवाबों का ताल्लुक़ शिया समुदाय से था और कई इमामबाड़े आज भी उनकी यादगार मौजूद हैं, मगर जब हम मुग़लों की तरफ़ नज़र करते हैं तो कुछ बादशाहों को छोड़कर अधिकतर बादशाहों ने हुसैन के नाम पर आंसू बहाये हैं।

हैं दर-ए-दौलत से होते बहरावर शाह-ओ-गदा
फिर भला इस दर के होते किससे कीजे इल्तेजा
आप समझें या न समझें पर ज़फर है आपका
आइये अब तो मदद के वास्ते बहर-ए-खुदा

या हुसैन इब्ने अली, बंदा बहुत नाचार है
–बादशाह सिराजुद्दीन मोहम्मद बहादुर शाह ज़फर

इससे ये बात भी साबित हो जाती है के जिस तरह मुहर्रम ने मज़हब का फ़र्क़ दूर किया वैसे ही अमीर और ग़रीब के बीच का फ़र्क़ मिटाते हुए बादशाहों और आम लोगों के दिलों पर एक तरह से असर किया।

उल्लेख :

1. Everyday Shiaism in South Asia, Karen G Ruffle
2. Brahmans at Karbala, Intizar Hussain
3. अज़ादारी ए हज़रत इमाम हुसैन : एक आफ़ाक़ी जायज़ा, धर्मेंद्र नाथ

4. तारीख़ ए जुनूबी हिंद, महमूद खान महमूद
5. दक्कन में मर्सिया और अज़ादारी, डॉ. रशीद मूसवी
6. अज़ादारी-ए-हज़रात इमाम हुसैन : एक आफ़ाक़ी जायज़ा, धर्मेंद्र नाथ
7. मुन्तख़ब उल लुबाब, ख़ाफ़ी ख़ान
8. सरफ़राज़- तारीख़-ए-अज़ादारी नम्बर - शुमार 001
9. तारीख़-ए-लाहौर, ख़ान बहादुर मोहम्मद लतीफ़ सी आई ई
10. Letters Written in a Marhatta Camp During the year 1809, Thomas Duer
11. सरफ़राज़- तारीख़-ए-अज़ादारी नम्बर - शुमारा 001

(3)

एक गुमशुदा बस्ती–मुहर्रम के आईने में

जहां भी क़िस्सा ए दर्द-ए-ग़म-ए-उल्फ़त बयाँ होगा
हमारा ज़िक्र ही महफ़िल में ज़ेब-ए-दास्ताँ होगा
–नन्द किशोर प्रसाद नन्द अज़ीमाबादी

अब तक हिंदुस्तान में अज़ादारी के हवाले से कई इलाक़ों की बात हुई। कई शहरों, कई बस्तियों की बात हुई, कई जगहों के नाम आए मगर एक नाम इस पूरी फ़ेहरिस्त से ग़ायब था। अक्सर जब अदब, साहित्य, और तहज़ीब का ज़िक्र होता है तो दिल्ली, लखनऊ, कलकत्ता, हैदराबाद, मुर्शिदाबाद जैसे कई नामों के बीच आज का पटना जिसे अज़ीमाबाद के नाम से भी जाना जाता था कहीं गुम हो जाता है।

यह क़दीम और मशहूर शहर जो पहले पाटलिपुत्र कहलाता था यही अज़ीमाबाद के नाम से जाना गया। यह गुमनाम शहर एक पुरानी और मुनफ़रिद तहज़ीब का आईनादार है। शायरी में यह शहर दाबिस्तान-ए-अज़ीमाबाद के नाम से अपनी एक अलग पहचान भी रखता है। "अज़ीमाबाद का स्कूल (school of poetry) उर्दू का क़दीम तरीन दबिस्तान रहा है जो दक्कन का हम असर तो हो सकता है लेकिन लखनऊ इसके आगे बहुत कमसिन है।"[1]

लखनऊ, जो तहज़ीब और अदब का इकलौता मरकज़ बनकर सामने आता है, उसके

मुक़ाबले में अज़ीमाबाद बहुत पुराना और अहम केंद्र है। "अगर तारीख़ पर नजर डाली जाए तो दिखेगा कि दिल्ली को मरकज़ियत तो जरूर हासिल थी मगर औरंगज़ेब के पोते अज़ीमुशशान की वजह से दिल्ली और अज़ीमाबाद एक ही मकान के दो आंगन बन गए। यही वजह थी कि दिल्ली में होने वाले आक्रमणों के बाद जब वहां के रहने वालों का काफ़िला वहां से चला तो उसकी मंजिल अज़ीमाबाद हुई।"[2] अज़ीमाबाद की ज़मीन पर कई लोग कई तहज़ीबों के आईनादार बन कर आते रहे और अज़ीमाबाद अपनी बाहें फैला कर उन्हें स्वीकार करता गया।

महाराजा राम नारायण मौज़ूं, महाराजा शिताब राय, मोहम्मद जाफ़र ख़ान राग़िब, गुलाम अली रासिख़, नवाब अहमद अली ख़ान क़यामत, नवाब ख़ादिम हुसैन ख़ान ख़ादिम, नवाब हिदायत हुसैन ख़ान मोमिन, नवाब अली इब्राहीम ख़ान ख़लील, कुंवर हीरालाल ज़मीर, राजा प्यारेलाल उलफ़ती, रुस्तम अली ख़ान रुस्तम, नवाब अशरफ़ अली ख़ान फ़ुग़ां जैसे शायरों ने अजीमाबाद को एक तहज़ीबी मेआर अता किया। इसके बावजूद अदब ने अज़ीमाबाद को उसके हक़ से दूर रखा। ऐसे आलम में अगर हम तहज़ीबी ज़ाविए से हिंदुस्तान के मुहर्रम की तारीख़ में अज़ीमाबाद को नहीं पाते हैं तो यह हैरत की बात नहीं।

मुहर्रम अरबी कैलेंडर का पहला महीना है जिसकी दसवीं तारीख को पैगंबर मोहम्मद के नवासे हुसैन को उनके घर वालों के साथ तीन रोज का भूखा प्यासा क़त्ल कर दिया गया था और उसके बाद उनके घर की औरतों को क़ैद कर लिया गया। इस वजह कर मुहर्रम के बाद अरबी कैलेंडर का अगला महीना सफर और उसके बाद तीसरे महीने रबी उल अव्वल की पहली 8 तारीख़ें ग़म की तारीखें मानी जाती हैं।

मुहर्रम के पहले 10 दिन पटना वालों के लिए ऐसी मसरूफ़ियत के दिन होते थे कि ज़िंदगी के सारे कारोबार तर्क कर दिए जाते और बाक़ी तमाम मशग़ूलियतें बंद हो जाती थीं। अपने अपने हौसले और तौफ़ीक़ के मुताबिक़ हिंदू और मुसलमान दोनों अज़ादारी के एहतमाम में लग जाते।

सैयद बदरुद्दीन अहमद साहब का बयान है कि इधर मुहर्रम का चांद नज़र आता और उधर नौबत-ख़ानों और अखाड़ों में मुहर्रम के डंके बजने लगते। एलान हो जाता कि कल मुहर्रम की पहली है और चमरू डांडिये का अखाड़ा मिट्टी लाने के लिए पहली तारीख़ में बड़ी शान

से निकलता। मील डेढ़ मील के जुलूस में हाथियों की लंबी क़तार, पीठ पर झालदार झूलनों के साथ हौदे–उन पर ज़ेवर, कोई चांदी तो कोई गंगा-जमुनी। हाथियों के मस्तक पर एक बड़ी-सी ढाल जिस पर चांदी के फूल लगे होते थे। लंबे-लंबे दांतों में सब्ज़ और सुर्ख़ रेशमी फरैरे लगे होते थे। किसी हाथी के लंबे दांतों पर चांदी की क़ंदीलें भी नक़श होती। गले में हैकल और दुमों में दुमछल्लियां, सोने चांदी के छोटे-छोटे अलम जिनमें रेशम, कम-ख़ाब और जामेदार के फरहरे लगे होते जिन पर कतबे होते–इनको लोग हाथों में थामे हाथियों पर बैठे हुए इस जुलूस में शामिल रहते थे। जिन हाथियों पर सिर्फ ज़रनिगार झूलें होती उन पर लोग बड़े-बड़े सियाह अलम और निशान के बांस को मज़बूत डोरियों के सहारे बांध देते। चांदी और सोने के अलम और निशान रोशनी में जगमग करते। फिर ऊंटों की कतारें होतीं जिनमें आगे-आगे एक सजी सजाई सवारी पर नक़ीब वर्दी पहने क़दम-क़दम पर हज़रत इमाम हुसैन की सवारी का ऐलान करता जाता। जब इसकी आवाज फिज़ा में बलंद होती तो जुलूस की शान-ओ-शौकत और बढ़ जाती। उसकी कड़कती तान नक़क़ारे की चोब पर टूटती। जुलूस में सबसे आगे एक निशान का हाथी होता फिर पचासों घुड़सवार–सब एक तरह के फ़ौजी लिबास पहने हाथों में हरे और लाल फरहरे में लिपटे हुए भाले उठाए, शहसवारी की शान दिखाते जाते। इसके बाद पचासों घोड़े चांदी और सोने के ज़ेवरात से आरास्ता रहते। इनके पीछे ऊंट सवारों का एक गिरोह होता और उसके बाद हाथियों की क़तार शुरू हो जाती।

इस लंबे से जुलूस के बीचों बीच तरह-तरह के बाजे बजाने वालों के गिरोह होते जो कर्बला का वाक़या और उससे जुड़े गीत बजाते जाते। जुलूस के आख़िर में मिट्टी लाने का सामान होता। एक आदमी के सर पर चांदी की बड़ी-सी ढकी हुई थाल होती, इस थाल में किसी दरगाह या किसी आस्ताने की मिट्टी होती। इस मिट्टी से इमामबाड़े कि उस जगह को लीप पोत कर तैयार करते जहां पर सिपर और ताज़िए रखे जाते। इसी तरह अखाड़े पहली और दूसरी मुहर्रम को निकलते और मिट्टी लेकर अपने-अपने इमामबाड़े सजाते। सात मुहर्रम को चमरुडांडिये का अखाड़ा फिर बड़ी शान से निकलता और उसके बाद सभी ताज़िए और सिपर तैयार होकर मुहर्रम की 8 तारीख को बड़ी धूमधाम से निकलते। आठवीं मुहर्रम से नवीं मुहर्रम की रात तक जुलूस के साथ अखाड़े का निकलना गश्त कहलाता था। 10वीं मोहरम को सारे बड़े और छोटे अखाड़े जुलूस के साथ निकलते और रात का वक़्त होता तो रंग बिरंगे शीशे लगे हुए 50-100 बड़े-बड़े झाड़ जिनके अंदर मोमबत्तियां रोशन होतीं, मज़दूर उन्हें अपने कंधों पर उठाये जुलूस के साथ-साथ चलते और उसके अलावा रोशनी के लिए सैकड़ो मशालें जुलूस के हमराह होतीं।

इन अखाड़ों का सिलसिला 11वीं मोहरम तक रहता और इन्हीं अखाड़ों में मन्नू भटयारे का अखाड़ा एक नई शान और शौकत के साथ निकलता था। जुलूस में कई छोटे बड़े चांदी के अलम, पंजे और निशान बेश क़ीमती कश्मीरी शाल के फरहरों से सजे होते। जुलूस में शामिल सभी लोग काले कपड़ों में होते और इंतहा यह के बाजा बजाने वाले भी सियाह लिबास में नज़र आते। हाथियों के ऊपर डाली गई चादरें और कपड़े भी स्याह होते थे, और ताज़िए भी काली नक़ाब से ढके होते।

मोहल्ले पीर दमडिया से हिजड़ों का ताज़िया भी निकलता था। इस जुलूस में सिर्फ़ इसी समुदाय के लोग नोहा-ख़वानी और सोज़-ख़वानी करते थे। इनकी दर्द में डूबी हुई नोहा-ख़वानी बड़ी पुरअसर होती। इससे एक दिन पहले 9 मुहर्रम को हिजड़े दुलदुल का जुलूस भी निकालते थे, मगर अब पीर दमडिया में हिजड़ों के साथ-साथ उनका अखाड़ा और जुलूस भी खत्म हो गया।

"मोहल्ला पीर दमड़िया में तक़रीबन डेढ़ सौ हिजड़े रहा करते थे। आशूरा के दिन इनका भी दुलदुल, बड़ी धूम धाम के साथ निकल कर दरगाह जाता था। इस दुलदुल के चारों तरफ ख्वाजासरा और हिजड़े अपने बाल खोले, पारम्परिक अंदाज़ में नौहा पढ़ते और मातम करते हुए जाते।"[3]

मुहर्रम में अलम के जुलूस आखिरी दिनों में अलग-अलग जगह से निकलते। इनमें पटना के रहने वालों के साथ-साथ लखनऊ, फैज़ाबाद और जौनपुर जैसे इलाकों से आने वाले मातमदार भी अपना-अपना गिरोह बनाकर शामिल होते। हर गिरोह के बीच में एक आदमी नोहा पढ़ता और लोग इमाम हुसैन का नाम लेकर इस जोर से अपना सीना पीटते कि चारों तरफ आवाज़ गूंजने लगती। जब मातम का जोश बढ़ता तो लोग ज़ंजीरों से मातम करना शुरू कर देते। इन जंजीरों में छोटे-छोटे चाकू लगे होते और यह ज़ंजीर दोनों हाथों से पकड़ कर अपनी पीठ और सीने पर इस तरह मारी जाती की पूरी पीठ और सीना खून से लथपथ हो जाता, मगर इश्क़ में डूबे बेख़बर लोग खुद को ज़ख्मी करते जाते।

आठवीं मुहर्रम को अलम का सबसे बड़ा जुलुस चमरूडंडिया से निकलता। इसमें शहर के कई छोटे-बड़े जुलूस शामिल होते। हजारों आदमियों का यह जत्था जिसमें आम मुसलमान और हिंदू एक साथ अपने सीनों पर हाथ रखे हुसैन के ग़म में आंसू बहाते आगे

बढ़ते। इस जुलूस में हर फ़िरक़े के मुसलमान और हिंदू बड़ी तादाद में शामिल होते। जो लोग नौहे और मातम में शामिल नहीं होते वह भी एतराम में अपने सीने पर हाथ ज़रूर रख लेते थे।

सड़क के किनारे दुकानों और कोठों पर लोग जुलूस देखने के लिए मौजूद रहते, और जब यह जुलूस गुज़रने लगता तो सभी लोग अपने-अपने सरों पर से टोपियां उतार लेते।

10 दिनों तक शहर के इमामबाड़े सजे रहते, लोग हज़रत इमाम हुसैन और कर्बला के शहीदों के नाम की नियाज़ दिलवाते और फ़ातिहा का तबर्रुक अपने-अपने घर ले जाते। इन आने वालों में हिंदू और मुसलमान दोनों बराबर तादाद में आते और उनके बीच फ़र्क़ करना नामुमकिन था। हिंदू और मुसलमान, औलाद के लिए मुरादें मानते और मुराद पूरी होने पर जैसे मन्नत उतारने का वादा करते उसी तरह उन मन्नतों को पूरा भी करते थे। कोई अपने बच्चों को इमाम का सेवक बनाता, कोई सक्क़ा बनाता, कोई प्यासों को पानी पिलाता कोई इमाम का भिखारी बनाकर अपने बच्चों से इमाम के नाम पर भीख मंगवाता तो कोई हज़रत आबिद की तरह क़ैदी बना कर ताज़िए में बच्चे का हाथ बंधवाकर गलियों और बाजारों में ताज़िए के साथ-साथ फिराता।

हिंदू और मुसलमान दोनों दूध के शरबत या सिर्फ़ शक्कर के ठंडे शरबत की सबीलें लगाते और आवाज़ देते कि 'प्यासों, पियो सबील है नज़रे हुसैन की'।

इन दिनों औरतें सिर्फ़ हरे या काले कपड़े पहनतीं और बच्चे हरे छापे के कपड़ों में नज़र आते। औरतें अपने हाथों की चूड़ियां तोड़तीं और हर क़िस्म का बनाव-सिंगार बंद रहता। इमाम का शोक मनाने में यह बातें ज़रूरी थीं और हद तो यह कि लोग मुहर्रम के दिनों में पान खाने से भी परहेज़ करते थे।

पटना में कई तरह के ताज़िए बनाए जाते थे। कपड़े के ताज़िए, रंग-बिरंगे काग़ज़ों के ताज़िए, मोम के ताज़िए, सरसों के दानों और राई के ताज़िए, और कुछ ताज़िए तो सिर्फ़ शीशे के होते थे। इन ताज़ियों पर तरह-तरह के नक्शे खींचे जाते थे जंगलों के, पहाड़ों के, दरिया के, नहर ए फ़ुरात के, और कहीं खुद कर्बला के मैदान का नक्शा होता।

इमामबाड़ों में ताज़िये के साथ-साथ सिपर भी रखी जाती थी। यह खास पटना का रिवाज था इसलिए सिपर के लिए पटना तमाम हिंदुस्तान में मशहूर था। तक़रीबन सात फीट के बांस के ऊपर एक कमान की शक्ल का ढांचा तैयार किया जाता जिसे सोने चांदी के ज़ेवरात से सजाया जाता उस पर छोटी-छोटी तलवारें और कटारें लटकायी जातीं और उनकी नोक पर चांदी या सोने के अनार लगे होते थे।

पहले जितने जुलूस निकलते थे उनमें मुसलमानों से ज़्यादा हिंदुओं की तादाद रहती और बहुत से अखाड़ों के ख़लीफा हिंदू ही होते थे और अक़ीदत के साथ सारी रसमें अंजाम देते थे। पटना में मुहर्रम की धूमधाम और रौनक़ हिंदुओं और मुसलमान के मेल मिलाप से ही क़ायम थी, जिसमें इन दोनों क़ौमों का बराबरी का हिस्सा था।

आज के अज़ीमाबाद में पहले जैसी धूम तो नहीं रही मगर उसका एक धुंधला सा नक्शा बाक़ी रह गया है और यह भी ग़नीमत है।

सबसे बड़ी चीज़ जो बाक़ी रह गई है वह यह है कि आज भी मुहर्रम में हिंदुओं की अक़ीदत मौजूद है। और आज भी हिंदू और मुसलमान मिलकर पटना में मुहर्रम मनाते हैं ।" पटना तमाम हिंदुस्तान में यह हैसियत रखता है कि आज तक मुहर्रम में यहां ज़रा भी हिंदुओं और मुसलमान के दरमियान झगड़ा नहीं हुआ, दंगे और फ़साद तो बहुत दूर की बातें हैं।"[4]

"अज़ीमाबाद के हिंदू हज़रात भी अज़ादारी में उसी अक़ीदत और इनहेमाक से शरीक होते हैं के जिस तरह एक मुसलमान को होना चाहिए और इमाम हुसैन के नाम पर लाखों रूपए मुहर्रम के दस दिनों में लुटा देते हैं।"[5]

अज़ीमाबाद का दशहरा, मुहर्रम और चेहलुम एक ख़ास इम्तेयाज़ रखता था, वो ये कि हिंदू और मुस्लमान इन त्योहारों में बराबर के हिस्सेदार होते थे। "दशहरे में हर मोहल्ले के अंदर, हर चौराहे पर, हर बड़े और छोटे रईस के महल में रक़्स और सुरूर की महफिलें जमतीं। होली में हिंदू मुसलमानों के मुंह पर अबीर मलते और मुहर्रम में आशूर की रात को हिंदू, अपने मुस्लमान भाइयों के साथ अपने सर पर ख़ाक डालते, कफनियाँ और बद्धियाँ पहनते। मुहर्रम के अखाड़ों की सारी रौनकें हिंदुओं की मौजूदगी से थीं। हर मोहल्ले का एक-एक अखाड़ा अलग होता जिसे हिंदू और मुस्लमान दोनों मिल कर सजाते और उठाते थे। कई

हिंदू रईसों का अपना अखाडा होता, अपना इमाम चौक, अपनी सिपर और ताज़िये होते, जिसमें शिव बाबू, कोयल बाबू, और राय सुल्तान बहादुर का अखाडा, तारीख़ के पन्नों में मौजूद है। एक बार को ऐसा लग सकता है कि हिंदू-मुस्लिम एकता और इत्तेहाद की बातें सिर्फ कहानियां हैं, मगर आज भी इसकी मिटी हुई यादगारें हर साल मुहर्रम के महीने में अज़ीमाबाद की सड़कों पर नज़र आ जाती हैं।"[6]

अल्लामा जमील मज़हरी 1970 के ज़माने में लिखते हैं कि चुन्नी लाल बांके, गन्नू साह, और काशी कसीरे की सिपरें आज भी उनके मोहल्ले से निकलती हैं। होली के स्वांग और मुहर्रम के जुलूस में हिंदू और मुस्लमान लड़के आज भी कुछ न कुछ हिस्सा ले ही लेते हैं। फ़साद पसंद लोग, हर ज़माने में इस एकता को दरहम-बरहम करने की कोशिशों में रहे मगर होली के बाजों और मुहर्रम के नक़्क़ारों की गूँज में उनकी कोशिशें कहीं दब कर रह गयीं।

इमामबाड़ों का आधे से ज़्यादा हिस्सा हिंदू हज़रात से भरा होता था। ख़ास तौर पर दीवान मोहल्ले के हिंदू कायस्थ घरानों के अफ़राद बड़ी दिलचस्पी से मुहर्रम की मजलिसों में शरीक होते, जहां दाद देने का मौक़ा होता वहां उनके होंठ बेसाख़ता वाह कह देते और आह के साथ-साथ उनकी पलकों पर आंसुओं के सितारे जगमगाने लगते। हिंदू और मुसलमानों का यही बिरादराना रिश्ता था जिसने पटना को फ़िरक़ावाराना फसाद और सांप्रदायिक दंगों से दूर रखा। "पिछली सदी में हिंदुस्तान के कई हिस्सों में फसाद हुए मगर, कुछ फ़िरक़ापरस्त और साम्प्रदायिक लोगों की मुसलसल कोशिशों के बावजूद पटना ने इस आग की चिंगारी को भी अपने नज़दीक आने की इजाज़त नहीं दी। जब 1946 में बिहार के अंदर साम्प्रदाइक दंगों का ज्वाला मुखी फट पड़ा था, तब भी पटना ने अपने रिवायती अंदाज़ में दशहरे और मुहर्रम के त्योहार मनाये थे। ना तो दशहरे के जलसों में मुसलमानों की कमी महसूस की गयी थी न ही मुहर्रम की मजलिसों और जुलूसों में हिंदुओं की।"[7]

उल्लेख :

1. शाद की ग़ज़लगोई, सय्यद अबुतालिब ज़ैदी
2. दबिस्तान ए अज़ीमाबाद, सुल्तान आज़ाद

3. नक़्श ए पायेदार, नवाब सय्यद अली मोहम्मद ख़ान शाद अज़ीमाबादी
4. हकीकत भी कहानी भी, बदरुद्दीन अहमद
5. शहर ए अज़ीमाबाद की अज़ादारी, नवाब सय्यद वारिस इस्माईल
6. कल का अज़ीमाबाद, मंसूरात ए जमील मज़हरी, हिस्सा II
7. बिहार की खबरें, 26 जनवरी 1970

(4)

अज़ीमाबाद में अज़ादारी के मरकज़

अज़ीमाबाद में बहुत से ईरानी रईस और अमीर आबाद हुए जिनकी वजह से अज़ादारी को एक ख़ास रौनक़ हासिल हुई। "इस शहर में अज़ादारी के दो रिवाज तैयार हुए, एक को अवामी अज़ादारी कहते हैं यानि मजलिस, मातम और जुलूस और दूसरे को ताज़ियादारी - इसमें सिपर भी निकाली जाती है जिसमें बाजे और हाथी घोड़े भी होते हैं।"[1] जैसे-जैसे वक़्त गुज़रा, पटना में अज़ादारी के कुछ अहम मरकज़ क़ायम हुए।

1. दूलीघाट :

"पटना में अज़ादारी की बुनियाद हाजी नवाब सय्यद अहमद अली ख़ान बहादुर क़यामत अज़ीमाबादी ने 1722 ई. में रखी। नवाब अहमद अली ख़ान क़यामत दूलीघाट के पहले नवाब थे और लगातार सात बरस कर्बला और नजफ़ में रहने के बाद जब हिंदुस्तान वापस आये तो अपने साथ दो ज़रीह (इमाम हुसैन के मज़ार की तर्ज़ पर बना हुआ प्रतिरूप) लेते आये, फिर उन्होंने पटना में दो इमामबाड़े बनवाये, पहला अपने मकान बाग़ हवेली के नज़दीक मोहल्ला दूलीघाट में और दूसरा ख़्वाजाकलां में संगी-दालान का इमामबाड़ा। इसके इलावा अपने क़रीबी दोस्त हाजी अब्दुल लतीफ़ के लिए मोहल्ला गौरी स्थान में भी एक इमामबाड़ा बनवाया था।"[2]

"मुहर्रम की पहली तारीख़ से लेकर दसवीं तारीख़ तक दूलीघाट के इमामबाड़े में मजलिस होती

थी, हर महीने की 20 तारीख को संगीदालान के इमामबाड़े में 21 को शाह अब्दुल लतीफ के इमामबाड़े में यानी मोहल्ला गौरी स्थान में और 9 तारीख को तकिया शाह बाक़र में।"[3]

"नवाब सैयद अहमद अली खान बहादुर क़यामत के अज़ीमाबाद लौटने से पहले पटना में अजादारी का मोहकम रिवाज ना था। जब नवाब साहब पटना लौट के आए और इमामबाड़े बनवाकर मुहर्रम का अशरा और बाक़ी मजलिसें शुरू कीं, तभी से अज़ीमाबाद में अजादारी का रिवाज आरंभ हुआ।"[4]

अगर हम दूलीघाट पर एक नजर डालें तो हमारे लिए अज़ीमाबाद के मुआशरे को समझना बहुत आसान हो जाएगा। नवाब अहमद अली ख़ान कयामत का खानदान सन 1278 ई. में तुर्की पर मंगोलों के हमले के बाद हिंदुस्तान आ गया था। हिंदुस्तान में ग़यासुद्दीन बलबन की हुकूमत थी और नवाब साहब के जद हजरत शमसुद्दीन फरियाद रस को अवध में कुछ जागीरें देकर शहर अयोध्या में बसाया गया। 16वीं शताब्दी के शुरुआती तीन दशक तक यह परिवार अवध में ही रहा और उसके बाद 1536 के आसपास बिहार में आ बसा। "बादशाह औरंगजेब के आखिरी ज़माने से लेकर बादशाह शाह आलम द्वितीय के दौर तक इस खानदान के अक्सर बुजुर्ग दिल्ली में मुग़ल हुकूमत के आला ओहदों पर कार्यरत रहे।"[5] यही वजह है के इस ख़ानदान में अवधि और देहलवी तौर तरीके और तहज़ीब के अवशेष नज़र आते हैं।

"जब दिल्ली पर नादिर शाह और अहमद शाह जैसे हमलावरों के आक्रमणों का सिलसिला शुरू हुआ, तो दिल्ली के लोगों ने दिल्ली छोड़कर अज़ीमाबाद का रुख़ किया। शेख मोहम्मद रज़ा निजात देहलवी और मिर्ज़ा मोहम्मद वासिल देहलवी जैसे शायरों ने जब दिल्ली छोड़कर अज़ीमाबाद का रास्ता लिया तो नवाब अहमद अली क़यामत ने इन्हें अपने दरबार में जगह दी।"[6]

"दूलीघाट के करीब ही मोहल्ला सीढ़ी घाट में महाराजा शिताब राय बहादुर का परिवार भी दिल्ली से आकर बस गया, और इन्होंने भी अपने दरबार में दिल्ली से आने वाले कई दिग्गज शायरों को जगह दी, जिनमें मुग़ल बादशाह अहमद शाह बहादुर के रिश्ते के भाई नवाब अशरफ अली ख़ान फ़ुग़ां का नाम सबसे पहले लिया जाता है।"[7] इस वक़्त महाराज राम नारायण मौज़ूं भी अज़ीमाबाद में मौजूद थे।

"कुछ वक्त और गुज़रा तो 1857 के गदर के बाद लखनऊ के शायरों ने भी अज़ीमाबाद

का रास्ता लिया। इससे पहले अवध के शाही परिवार के कई शहज़ादे और नवाब आसिफ़ुद्दौला के बेटे नवाब वज़ीर अली ख़ान (जिन्हें नवाब सआदत अली ख़ान ने तख़्त से हटा दिया था) का परिवार भी अज़ीमाबाद में आकर बस गया।"[8] अवध के शाही परिवार में दूलीघाट के नवाबों की रिश्तेदारियां भी थीं और ताल्लुक़ात भी बहुत बेहतर थे। "नवाब सआदत अली खान की बेटी दूलीघाट में ब्याही गई थीं।"[9] और दूलीघाट के नवाबीन अक्सर लखनऊ जाया करते थे, जिन में सबसे अहम नाम नवाब निजात हुसैन ख़ान बहादुर अशकी का है जिन्होंने नवाब अमजद अली शाह के ज़माने में अवध का दौरा किया और अक्सर शायरों से मुलाकातें की और उसका पूरा ब्यौरा अपनी किताब सवानह ए लखनऊ में लिख डाला।[10] इसी दौरे का नतीजा यह हुआ की 1859 में लखनऊ के मशहूर शायर और मर्सियागो मिर्ज़ा दबीर दूलीघाट के नवाब सआदत अली ख़ान तमकीं की पत्नी ईमामबांदी बेगम साहिबा के बुलावे पर पटना आए और लगातार 19 बरस तक यहीं मुहर्रम की मजलिसें पढ़ते रहे जब तक उनका इंतकाल ना हो गया। उनके बाद सन 1971 तक उनके बेटे फिर उनके पोते और पर-पोते मर्सियाख़वानी करते रहे।[11]

इस परिवार की खिदमतों का नतीजा यह हुआ की पटना, अज़ीमाबाद की इनफ़ेरादी तहज़ीब के साथ-साथ लखनवी या फिर यूं कहिए के अवधि और देहलवी तहज़ीब का उदाहरण बन कर उभरा।

2. नौज़र कटरा :

दूलीघाट के क़रीब मोहल्ला नौज़र कटरा मौजूद है। "पटना में यहां का इमामबाड़ा बहुत पुराना और बादशाह जलालुद्दीन मोहम्मद अकबर के ज़माने का माना जाता है।"[12]

"यह इमामबाड़ा और यहां की अज़ादारी सफ़वी शहज़ादों की क़ायम की हुई है। इस ख़ानदान का ताल्लुक़ शाह इस्माईल सफ़वी से है और इस ख़ानदान के कई शहज़ादे अज़ीमाबाद में आए और गंगा के तट पर अपना महल बनवा कर रहने लगे। इन्हीं शहज़ादों में शहज़ादे रुस्तम अली ने अजीमाबाद में क़याम किया और आपके पोते शहज़ादे मिर्ज़ा नौज़र अली सफ़वी ने एक महल बनवाया जिसमें मस्जिद और अज़ाखाना और एक कर्बला बनवाई। इस खानदान के किसी बुजुर्ग ने मुहर्रम के दिनों में ख़्वाब देखा कि दरिया में कोई चीज़ मौजूद है जो बहुत ज़्यादा चमक रही है उसकी शक्ल सिपर जैसी थी इसलिए पटना की अज़ादारी में सिपर को शामिल कर लिया गया।"[13]

दूसरा क़िस्सा यह है के "जब कर्बला के लिए कुआं खुदवाया जाने लगा तो उसके अंदर से एक लोहे की सिपर निकली, इस सिपर को खास समझा गया और आशूर के दिन हाथी के ऊपर सजाया गया और देखने वालों का एक तांता लग गया और उसके बाद से ही पटना में सिपर का जुलूस निकालने का रिवाज हुआ।"[14]

नौजर कटरा के हवाले से ये दोनों क़िस्से मशहूर हैं, पहला क़िस्सा नक़ी अहमद इरशाद ने लिखा है दूसरा उनके दादा शाद अज़ीमाबादी के हाथों का लिखा हुआ है। वक़्त के साथ साथ लोग और उनकी ज़बानों पर मौजूद क़िस्से बदलते जाते हैं, मगर नौज़र कटरे का इमामबाड़ा अभी भी मौजूद है–अगरचे अब नया बन चुका है और बहुत बदल भी चुका है मगर अपनी तारीख़ की यादगार है।

तारीख़ में इस इमामबाड़े का तो ज़िक्र मिलता है मगर यहाँ होने वाली मजलिसों या अज़ादारी का कोई लिखित सबूत नहीं है। लोगों की मानी जाए तो यहाँ अज़ादारी होती तो ज़रूर थी मगर ये सफ़वी खानदान के शहज़ादों और उनके घरवालों के लिए मख़सूस थी। अवामी अज़ादारी और मजलिसों का रिवाज, जिसके सबूत भी मौजूद हैं वो नवाब अहमद अली ख़ान क़यामत की कोशिशों का ही नतीजा है।

पटना में अज़ादारी के इन दो अहम मरकज़ों के ज़िक्र के बाद ये बातें तो तय हो गयीं कि पटना की अज़ादारी ईरानी, देहलवी, बिहारी, और अवधी तहज़ीब के मिश्रण के तौर पर उभरती नज़र आयी।

अब तक कल्चरल मिश्रण का ज़िक्र हो रहा था, मगर मज़हबी मेल जोल की बिना पर क़ायम होने वाले अज़ादारी के मरकज़ की कोई बात नहीं हुई, लेकिन एक इशारा ज़रूर किया गया।

जब इस क़दर ताम झाम, जोश और खरोश के साथ, नवाबों, राजाओं और शहज़ादों की छत्र-ओ-छाया में अज़ीमाबाद की अज़ादारी परवान चढ़ी तो फिर यहां की अवाम पर इसका असर यूं हुआ कि इन मजलिसों में लोगों का एक तांता बंध गया। और इसमें एक बड़ा हाथ हिंदुस्तानी संगीत का भी था। सोज़-ख़वानी, अज़ादारी का वो हिस्सा है जिसमें कर्बला के वाक़ये को सुरों और रागों में ढाल कर इस तरह पेश किया जाता है कि वह सुनने वालों के दिल को निचोड कर रख देता है। "दूलीघाट में मशहूर गायक और मौसिकी-कार मीर अली

हसन और बन्दे हसन सोज़-ख़वानी किया करते थे। दूलीघाट की पतली-पतली गलियों में इतनी भीड़ हो जाती थी कि लोगों के खड़े होने की जगह नहीं होती। और इस भीड़ में एक बड़ी तादाद हिंदुओं की होती थी।"[15]

चमरु डांडिया :

पटना के पूरबी हिस्से में, दरगाह हज़रत बाबुल हवाएज के नाम से मशहूर चमरु डांडिया का इमामबाड़ा मौजूद है। यहीं से नवाब सय्यद अब्दुल हुसैन ख़ान बरक़ अज़ीमाबादी उर्फ़ हज्जु नवाब साहब का क़ायम किया हुआ 8 मुहर्रम का मशहूर जुलूस निकलता है, जो 1875 में क़ायम किया गया था। जब हज्जु नवाब साहब ने इस जुलूस को क़ायम किया तो कुछ फ़सादियों ने साज़िश की और पुलिस की मदद से इस जुलूस को बंद करवाने का हुक्मनामा जारी करा दिया।

"जब नवाब बहादुर विलायत अली ख़ान साहब को इस की खबर हुई तो उन्होंने उस वक़्त के सुपरिंटेंडेंट ऑफ़ पुलिस को एक ख़त लिखा। सुपरिंटेंडेंट ऑफ़ पुलिस ने नवाब साहब को जो जवाब दिया वो नीचे दर्ज है"[16] :

> मोहतरम नवाब साहब,
>
> मुझे अभी तीन मिनट पहले यानि 11 बजकर 10 मिनट पर आपका एक ख़त मिला जिसमें आपने पुलिस के ज़रिये अलम के जुलूस को रोक देने की शिकायत की है। मुझे इस सिलसिले में हिदायत मिल चुकी है कि पुलिस को उन लोगों को गिरफ्तार करने का कोई इख़्तेयार नहीं है। आपके दोस्तों और साथियों को पिछले बरसों की तरह इस सिलसिले में मुक्कमल आज़ादी हासिल है।
>
> आप का ख़ैरख़्वाह,
> एस.पी, पटना
> 6 मार्च, 1877

और तब से आज तक, आठ मुहर्रम का ये जुलूस चमरु डांडिये के इमामबाड़े से निकलता है

और शहर के हर मोहल्ले में जाता है। ये जगह हमेशा से एक इमामबाड़े के तौर पर नहीं थी, कभी सिर्फ़ एक मामूली चौक था, फिर इमाम चौक हुआ और फिर इमामबाड़ा।[17]

"1803 का क़िस्सा यूँ है के चमरु एक हिंदू आदमी था जो पटना के मोहल्ले मारूफ़ गंज में दांडिये, यानि चीज़ें तोलने का काम किया करता और मुहर्रम के दिनों में कर्बला के शहीदों का फ़ातिहा दिलवाया करता था।"[18] जब वहां से मुहर्रम का जुलूस गुज़रता या कोई शिया उस रास्ते से जाता तो चमरु उस इंसान से फ़ातिहा देने को कह देता, एक रोज़ उसे देर हो गयी और सड़क पे कोई नहीं था, वो बहुत देर इंतज़ार करता रहा मगर कोई न आया तो बिलख-बिलखकर रोने लगा, तभी उसने देखा के घोड़े पर सवार कोई उसके क़रीब आया और उससे पूछा के तू क्यों रो रहा है? चमरु ने सारा माजरा बता डाला, घुड़सवार ने इसकी बात सुनी और कहा के मैं फ़ातिहा दिए देता हूँ। जब वो घुड़सवार फ़ातिहा दे चुका तो चमरु ने सवाल किया कि सब तो फ़ातिहा हाथ उठा कर देते हैं मगर आपने तो हाथ उठाये ही नहीं, घुड़सवार ने जवाब दिया कि तू जिनका फ़ातिहा करता है हमने उन्हीं के लिए कर्बला के मैदान में अपने हाथ कटवा दिए थे, और यह कहकर ग़ायब हो गए। वहां एक लम्बे समय तक घोड़े की टापों के निशान मौजूद थे। कर्बला के मैदान में इमाम हुसैन के भाई हज़रात अब्बास के हाथ काट दिए गए थे, इस क़िस्से की वजह कर ये जगह हज़रत अब्बास की दरगाह के नाम से मशहूर हो गयी और यहाँ मुहर्रम में ताज़िया रखा जाने लगा। लोगों ने मन्नतें मानीं और वो पूरी भी हुईं।

"बंगाल के नवाब नाज़िम नवाब सैयद मुबारक अली ख़ान द्वितीय हुमायूं जाह जिन्होंने बंगाल का मशहूर हज़ारद्वारी पैलेस बनवाया था वह कुछ दिनों के लिए अज़ीमाबाद में आकर रहे थे। उन्होंने भी चमरु डांडिया के इस इमामबाड़े मैं एक मुराद मांगी और उन्हें एक बेटा अता हुआ जो आगे जाकर बंगाल का अगला नवाब नाज़िम बना। यह और कोई नहीं नवाब मंसूर अली ख़ान फरीदून जाह थे। नवाब मुबारक अली ख़ान हुमायूं जाह ने मन्नत पूरी होने पर 500 बड़े-बड़े चांदी और उम्दा तोग़रे के अलम और पटकों के अलावा अंगीठी और गुलाब पाश और हजारों रुपए की चीजें इस इमामबाड़े में चढ़ाईं। इस इमामबाड़े के अलम तीन रोज़ निकला करते थे – पहली मुहर्रम को मिट्टी लाने के लिए, फिर सातवीं मुहर्रम को और फिर आशूर की रात।"[19]

पहले चमरु डांडिये के इमामबाड़े का सारा सामान मोहल्ले वालों के हाथ में होता था जब

चीजें इधर-उधर होने लगीं तो शाद अज़ीमाबादी के चाचा और उनके वालिद ने यह जिम्मेदारी संभाली। फिर यह जिम्मेदारी गुज़री के मोहम्मद नवाब साहब के हवाले कर दी गई।

"1930 तक चमरु डांडिये के इमामबाड़े के फाटक के सामने एक नौबत खाना हुआ करता था जहां पहली मुहर्रम से 9 मोहरम तक हर वक़्त शहनाई पर नोहे और सलाम की धुन बजाई जाती थी। हर रोज शाम के वक़त नज़र, नियाज़ और फातिहा दिलाने वालों की भीड़ रहती और हिंदू और मुसलमान तवायफ़ों का तांता बंधा होता था। लोग चिल्ले बांधते थे और मन्नतें मानते थे।"[20]

1934 के ज़लज़ले में इस इमामबाड़े का फाटक और नौबतख़ाना गिर गया। नवाब नाजिम बंगाल के चढ़ाए हुए वह बड़े-बड़े चांदी के अलम भी अब इस इमामबाड़े में नहीं सजते मगर चमरु डांडिये के इस इमामबाड़े की शान-ओ-शौकत कम-ओ-बेश अब भी वही है।

अहम बात यह है की अज़ादारी ने जहां धर्म और मज़हब के बीच की दूरी मिटाई वहीं ज़ात-पात का फर्क भी दूर किया। ऊंच नीच की हदें इस क़दर मिटा दीं के चमरु डांडिया के इमामबाड़े पर बंगाल-बिहार-उड़ीसा के नवाब नाजिम ने अपना सर झुका दिया।

उल्लेख :

1. शहर ए अज़ीमाबाद में अज़ादारी, नवाब सय्यद वारिस इस्माईल
2. बरक़ अज़ीमाबादी और पटना में आठ मुहर्रम का जुलूस, सय्यद फैज़ान रज़ा
3. तज़केरत अल अनसाब, सय्यद आलिम हुसैन
4. तज़केरत अल अकाबिर, नवाब निजात हुसैन खान अश्की
5. रियाज़ अल अनसाब, महमूद अली खान सबा अज़ीमाबादी
6. गुलशन ए सुखन, मर्दन अली खान मुब्तेला
7. दीवान ए अशरफ अली खान फ़ग़ाँ, सर्वर उल हुदा
8. कारवान ए रफ्ता, नक़ी अहमद इरशाद
9. बियाज़ ए इनायत हुसैन खान महजूर, शोअरा के तज़करे, क़ाज़ी अब्दुल वदूद
10. मिर्ज़ा दबीर और उनके उस्ताद मीर ज़मीर से मुलाक़ातें, नवाब निजात हुसैन खान अश्की, सरफ़राज़ लखनऊ

11. पयम्बरान ए सुखन, शाद अज़ीमाबादी
12. शाद का अहद ओ फन, नक़ी अहमद इरशाद
13. शहर ए अज़ीमाबाद में अज़ादारी, नवाब सय्यद वारिस इस्माईल
14. नक़्श ए पायेदार, शाद अज़ीमाबादी
15. अज़ादारी : तहज़ीबी, अदबी, सकाफति ओ म'आशरति मंज़रनामे में, शाहिद नक़वी
16. बरक़ अज़ीमाबादी और पटना में आठ मुहर्रम का जुलूस, सय्यद फैज़ान रज़ा
17. शहर ए अज़ीमाबाद में अज़ादारी, नवाब सय्यद वारिस इस्माईल
18. शाद का अहद ओ फन, नक़ी अहमद इरशाद
19. नक़्श ए पायेदार, शाद अज़ीमाबादी
20. शाद का अहद ओ फन, नक़ी अहमद इरशाद

(5)

माज़ी के झरोखों से

(दूलीघाट फ़ैमिली आर्काइव्ज़)

जैसा की ज़िक्र पहले आ चुका है कि अगर अज़ीमाबाद की तहज़ीबी विरासत को समझना है तो उसका सबसे आसान और बेहतरीन उदाहरण इस शहर में आबाद सबसे पुराने खानदानों में से एक और अज़ादारी की बुनियाद रखने वाला दूलीघाट के नवाबों का ख़ानदान है। इस परिवार ने 1722 ई. से लेकर अब तक कई कहानियां, कई यादें संजो के रखी हैं जो इस परिवार के साथ-साथ इस शहर की भी यादगार हैं।

दूलीघाट के नवाब तक़ी हसन ख़ान वफ़ा अज़ीमाबादी की बेटी मल्लिका अफ़ीफ़ा ख़ातून साहिबा की पोती सय्यदा रिज़वी साहिबा बताया करती थीं कि अज़ीमाबाद में हमेशा से मुहर्रम के जुलूस का रिवाज नहीं था। दूलीघाट के नवाबों के परिवार के बुज़ुर्ग सूफ़ी थे और अशरफिया सिलसिले से ताल्लुक़ रखते थे, लिहाज़ा मुहर्रम में शोक मनाना तो ज़ाहिर सी बात थी लेकिन अज़ादारी अहमद अली ख़ान साहब के पटना लौटने के बाद ही क़ायम हुई। नवाब साहब ने दो इमामबाड़े बनवाए एक तो दूलीघाट में बाग़ हवेली के नज़दीक और दूसरा कुछ किलोमीटर की दूरी पर मोहल्ला ख़्वाजा कलां में संगीदालान का इमामबाड़ा। इन दोनों इमामबाड़ों के बीच काफ़ी दूरी थी जो उस ज़माने के रईस पैदल तय नहीं करते थे। इस बात से आसपास रहने वाले लोग, घर में काम करने वाले लोग, और साथ-साथ बाक़ी तमाम ओहदेदार और मुलाज़िमिन बख़ूबी वाक़िफ़ थे।

नवाब अहमद अली ख़ान साहब ने इमामबाड़े बनवाने के बाद मुहर्रम में यह रिवाज भी क़ायम किया की आख़िरी 3 तारीखों में यानी 8, 9 और 10 मुहर्रम को वह पैदल, नंगे पैर और खुले सर अपने घर वालों, बेटों, भाइयों और रिश्तेदारों के साथ दूलीघाट से संगीदालान के इमामबाड़े तक जाते थे। जब नजफ़ से लौटने के बाद पहला मुहर्रम हुआ तो वह इसी तर्ज़ पर अपने सर पर ख़ाक डालते हुए सीना पीटते हुए अपने रिश्तेदारों के साथ घर से निकले और जब उन्हें और उनके घर वालों को बाक़ी मुलाज़िमों और रास्ता चलने वालों ने देखा तो वह भी अपना सर पीटते हुए नवाब साहब के पीछे-पीछे हो लिए। वह नहीं जानते थे कि नवाब साहब यह क्यों कर रहे हैं मगर इस बात का ख़्याल था कि अगर नवाब साहब इस हाल में अपने घर से निकले हैं तो यक़ीनन कोई बहुत बड़ी मुसीबत उन पर टूट पड़ी होगी। उनके पीछे चलने वाले इस हुजूम में ज़्यादातर हिंदू हज़रात थे।

नवाब साहब जब संगी दालान के इमामबाड़े पहुंचे तब उनके पीछे एक बहुत बड़ी भीड़ अपने सर पीटती हुई रोती चिल्लाती उनके साथ-साथ उस इमामबाड़े में दाखिल हुई। नवाब साहब शायर भी थे और अहम मर्सियागो भी। वहां उन्होंने मर्सिया पढ़ा और उन तमाम लोगों को कर्बला के वाक़यात से आशना कराया और फिर उसके बाद यह सिलसिला यूं ही बढ़ता रहा।

नवाब अहमद अली ख़ान साहब के पर-पोते नवाब निजात हुसैन ख़ान अशकी के दौर आते-आते यह मिली-जुली तहज़ीब और रस्में बहुत हद तक आगे बढ़ चुकी थीं।

“सीढ़ी घाट मोहल्ले में आबाद महाराजा शिताब राय का परिवार भी मुहर्रम के दिनों में अपना इमामबाड़ा सजाता और इमाम हुसैन का शोक मनाता था। नवाब निजात हुसैन ख़ान साहब का यह तरीक़ा था कि सूरज ढलते वह एक कलश में गंगाजल भरते और पैदल-पैदल उस गंगाजल को लेकर महाराजा शिताब राय के वारिस राय बादशाह बहादुर और राय सुल्तान बहादुर के पास जाते। राय बादशाह बहादुर और राय सुल्तान बहादुर अपने इमामबाड़े में नवाब निजात हुसैन ख़ान के हाथों लाए गए इस गंगाजल से शरबत बनाते और उस पर इमाम हुसैन का फ़ातिहा दिलवाते थे।”[1]

और हर साल मुहर्रम की 7 तारीख़ को राय बादशाह बहादुर और राय सुल्तान बहादुर इमाम

हुसैन के कैदी बेटे हजरत आबिद की याद में अपने हाथों में हथकड़ी डाले, पैरों में बेड़ियां पहने ख़ुद को ज़ंजीरों में जकड़ कर अपनी कोठी से दूलीघाट के इमामबाड़े आया करते और यही दस्तूर सालों साल चलता रहा।[2]

उल्लेख :

1. Remembering Ahmad Ali Khan, the Nawab of Doolighat who established Azadari in Azeemabad, Muslim Mirror
2. शहर ए अज़ीमाबाद में अज़ादारी, नवाब सय्यद वारिस इस्माईल

(6)

भूले-बिसरे लोग

पटना अपनी तमाम तर रिवायतों और क़िस्सों के बावजूद एक गुमशुदा बस्ती है। वक़्त के साथ-साथ ये शहर बहुत बदल गया और यहां की हक़ीक़तें कहानियां बन गयीं, फिर उन कहानियों को यहां के लोगों ने खुद अपने हाथों से दफ़ना दिया। और अब अगर आप पटना की गलियों में गुज़रे ज़माने की यादगार तलाश करेंगे तो कुछ ज़िंदा खंडहरों और अफ़सुर्दा क़ब्रिस्तानों के अलावा कुछ भी नज़र न आएगा। लोग, जिन्होंने इस शहर को गंगा-जमुनी तहज़ीब के सांचे में ढाला अब इस शहर में उनका नाम लेवा कोई शख्स भी अगर मिल जाए तो आप अपनी क़िस्मत पे रश्क कर सकते हैं। हालात इतने बदल चुके हैं कि अब इस बात पर यक़ीन करना भी मुश्किल है कि इस शहर की सड़कों ने अपने सीने पर उनके क़दमों के निशान संजो के रखे हैं। ऐसे में ज़रूरी है के हम उन भूले-बिसरे लोगों को तलाश करें और अपनी यादों में महफूज़ कर लें।

महाराजा कल्याण सिंह आशिक़

इंतेज़ाम उल मुल्क मुमताज़ उद दौला महाराजा कल्याण सिंह बहादुर तहवर जंग आशिक़ अज़ीमाबादी, मुमताज़ उल मुल्क अमीर उद दौला महाराजा शिताब राय बहादुर मंसूर जंग के बेटे थे। इनके दादा राजा हिम्मत सिंह बहादुर, बादशाह मोहम्मद शाह बहादुर रंगीले के जमाने में वजीरुल मालिक क़मरुद्दीन ख़ान बहादुर के दीवान थे।

महाराजा कल्याण सिंह ने अपनी किताब अजाएब उल वारदात में अपनी पैदाइश का बड़ा दिलचस्प क़िस्सा बयान किया है। आपके वालिद महाराज शिताब राय को बहुत दिनों तक कोई औलाद नहीं हुई, अगर कोई औलाद हुई भी तो एक या दो साल से ज्यादा ज़िंदा न रही। औलाद का न बचना शिताब राय साहब के लिए बड़ी परेशानी का सबब बना। मायूस होकर उन्होंने उस वक़्त के मशहूर सूफ़ी हज़रत सय्यद मोहम्मद अली के यहां हाज़िरी दी और पूरा मामला कह सुनाया। बुज़ुर्ग ने उनकी बातें ग़ौर से सुनीं और उन्हें तसल्ली दी और फिर हज़रत इमाम हुसैन की ताज़ियादारी करने के लिए कहा। राजा शिताब राय ताज़ियादारी की रस्मों को जानते थे और सूफ़ी मोहम्मद अली साहब की बात मान गए। एक साल के बाद यह दुआ रंग लाई और राजा साहब के यहां एक के बाद एक दो बेटे कल्याण सिंह और भवानी सिंह पैदा हुए। कल्याण सिंह की पैदाइश पर राजा साहब की खुशी का कोई ठिकाना नहीं रहा और इसी वजह से उन्होंने अपने बेटे के पैदा होने का जश्न 20 दिनों तक लगातार मनाया।[1]

महाराजा कल्याण सिंह आशिक़ के बारे में मिलता है कि "आप पैगंबर मोहम्मद और अहलेबैत से मोहब्बत रखते थे। आप हर वक़्त हजरत अली की मोहब्बत का दम भरते थे और खुद को मोमिनीन और रसूल अल्लाह के ख़ानदान के ऊपर फ़िदा होने वालों में शुमार करते थे।"[2]

महाराजा कल्याण सिंह आशिक़ की मसनवी इस बात का जीता जागता सबूत है–

गुल-ए-गुलसितान-ए-शराफ़त अली
सज़ावार-ए-तख़्त-ए-ख़िलाफ़त अली

वसी-ए-मुहम्मद है सुल्तान ए दीं
जहां में मुहम्मद का है जा-नशीं

ख़लीफ़ा ख़ुदा का है मिस्ल-ए-रसूल
इमाम ए दो आलम है ज़ौज-ए-बतूल

बड़ा अर्श से उसका है मर्तबा
के घर में ख़ुदा के तवल'लुद हुआ

अली शाह ए मर्दान ओ मरहब फ़ेगन
अली शेर ए याज़्दान ओ ख़ैबर शिकन

अली ए वली साहब ए ज़ुल्फ़कार
अली महरम ए राज़ ए परवरदिगार

हुसैन ओ हसन का पेदर है अली
शहंशाह ए जिन ओ बशर है अली

अली का उदू मुस्तफ़ा का उदू
नबी का उदू है ख़ुदा का उदू

ख़ुदा का उदू है सज़ावार ए नार
अगरचे मुसलमां है वो नाबकर

अली की मोहब्बत हो जिसको नसीब
मुहम्मद का प्यारा हो हक़ का हबीब[3]

बातें यहां तक होने लगी कि आपको पांच वक़्त का नमाज़ी और रमज़ान में रोज़े रखने वाला कहा जाने लगा। महाराजा कल्याण सिंह आशिक़ शिया अक़ीदे के हामी थे और हजरत हुसैन की शहादत पर ताज़ियादारी करते और अपने वालिद राजा शिताब राय की तरह मुहर्रम की दसवीं तारीख को खीर और खिचड़ा बड़े एहतमाम के साथ तैयार करवा कर उस पर फातिहा पढ़ते और सारे शहर में तक़सीम करवाते।[4]

गुलाम हुसैन ख़ान तबातबायी ने अपनी किताब सैर अल मुताख़रीन में कई तज़किरा निगारों की तरह कल्याण सिंह आशिक़ को शिया मुसलमान लिखा है। मगर इसका जवाब राजा साहब अपने कसीदे में दे देते हैं। कसीदा फारसी में है और उसका पहला शेर यह है :

काफ़िर ए हिंदू निज़ादम
मन मुसलमानी नयसतम

महाराजा साहब अपने दूसरे कसीदे में लिखते हैं कि मुझे मोहम्मद के नए दीन से क्या मतलब मैं तो अपने आबा ओ अजदाद के पुराने मज़हब को मानता हूं।[5]

मुंशी केवला प्रसाद फ़क़ीर

"अपने वक़्त के बड़े शायर और अदीब, मुंशी केवला प्रसाद फ़क़ीर मुज़फ्फरपुर में रहते थे। अरबी, फ़ारसी, संस्कृत और उर्दू पर पूरी क़ुदरत हासिल थी और साथ ही सूफ़ियों से मोहब्बत और अक़ीदत भी रखते थे।"[6]

ख़ानक़ाह ए फ़िरदौसिया, फ़तुहा के सज्जादानशीन हकीम सय्यद तक़ी हसन बल्ख़ी के पास उनके कुछ कलाम और उनका एक ख़त मौजूद है। उर्दू नुमाइश में मुंशी केवला प्रसाद फ़क़ीर का उर्दू दीवान और उसके साथ एक मसनवी पेश की गयी थी। इस मसनवी में उन्होंने अपने हालात लिखे थे, जिनसे मालूम पड़ता है कि महाराजा राम नारायण मौज़ूं अज़ीमाबादी और उनके भाई राजा धीरज नारायण, मुंशी साहब के बुज़ुर्गों में थे। इस निस्बत से मुंशी केवला प्रसाद फ़क़ीर, अज़ीमाबाद के एक पुराने ख़ानदान यानि महाराजा राम नारायण मौज़ूं के परिवार और उनके घर की तहज़ीब की यादगार थे।

इनका दीवान, पटना में रहने वाले इनके शागिर्द शिताब राय ने तैयार किया है और इस दीवान में एक रुबाई दया बहादुर नजफ़ी की भी दर्ज है। बड़ी तलाश के बाद भी ये पता न चल सका कि दया बहादुर नजफ़ी कौन थे, और इनका नाम भी उन हज़ारों गुमनाम बुज़ुर्गों की फेहरिस्त में जुड़ गया, जो इस गंगा-जमुनी सांचे की बुनियाद थे।

फ़क़ीर के हालात और उनकी अज़ादारी में शिरकत का सबूत उनके शेर हैं, जो जा-ब-जा हज़रत अली और इमाम हुसैन और उनके खानदान से मुहब्बत का दम भरते हैं।

फतुहा ख़ानक़ाह में मुंशी केवला प्रसाद फ़क़ीर का एक हफ़्त बंद (उर्दू शायरी की एक क़िसम) मौजूद है जो पैग़म्बर मुहम्मद की शान में है। पहले बंद का आख़िरी शेर यूँ है -

विरद दारद हर नफ़स शाहा फ़क़ीर ए बे नवा
या मुहम्मद मुस्तफ़ा ! या अली ए मुर्तज़ा !

जब ये कलाम मुकम्मल हो जाता है तो फिर आख़िरी बंद के बाद फ़क़ीर की एक रुबाई उनके दस्तख़त के साथ मौजूद है।

है नक़ल हफ़्त बंद वज़ीफ़ा फ़क़ीर का
मुंशी हूँ पा ए तख़्त ए जनाब ए अमीर का
मौला ने वो उरूज दिया इस फ़क़ीर को
चकरा रहा है होश फ़लक पर दबीर का

ऊपर दर्ज की गयी रुबाई में, फ़क़ीर हज़रत अली के ग़ुलामों में खुद को शुमार करते हैं, और इस ग़ुलामी को बाय्स ए फ़ख्र समझते हैं। मुंशी साहब के और भी जो अशआर नज़र आते हैं वो इमाम हुसैन की मुहब्बत का इक़रार करते हैं।

फ़र्ज़ है मोमिन को मरना मातम ए हसनैन में
इस से बेहतर मर्ग की सूरत नहीं कौनैन में
या अली ये बंदा ए आजिज़, फ़क़ीर ए बे नवा
हो फ़िदा हसनैन पर अशरे के शोर ए शेन में

इन अशआर से मुंशी साहब की ख़्वाहिश साफ़ ज़ाहिर होती है के वो इमाम हसन और इमाम हुसैन के इश्क़ में मरने की ख्वाहिश रखते हैं और इस मौत को बेहतरीन मौत मानते हैं। वो हज़रत अली से दुआ करते हैं के वो मुहर्रम के अशरे में यानि पहले दस दिनों में इमाम हुसैन के नाम पर फ़िदा हो जाएँ।

केवला प्रसाद फ़क़ीर इन सभी तमन्नाओं के साथ-साथ, उन कट्टरपंथी मुसलमानों को भी जवाब देते हैं जो इमाम हुसैन के ग़म के खिलाफ फ़तवे दिया करते थे और इसे ग़लत मानते थे।

आप फरमाते हैं :

कहते हैं अज़ा को के सना करते हैं
मजबूर हैं हम सुन के क़ना करते हैं

ईमां है फ़क़ीर बस अज़ा ए हसनैन
काफ़िर हैं वो जो इस से मना करते हैं[7]

लाला मातादीन श्रीवास्तव हशमती

लाला माता दीन श्रीवास्तव हशमती अज़ीमाबादी का नाम पटना के मशहूर शायरों की फ़ेहरिस्त में आता है। आप उस्ताद शायर मीर वज़ीर अली इबरती के शागिर्द थे और एक लंबे अरसे तक मुज़फ्फरपुर में मुंशी थे। 1889 में आप सदरे आला के ओहदे पर फ़ायज होकर गया चले गए।

"लाला मातादीन साहब मुहर्रम की मजलिसों में शरीक हुआ करते थे और इन्हीं की वजह से मशहूर मर्सिया-निगार मीर हादी वहीद साहब 1881 में गया तशरीफ लाए थे।"[8]

खुशा वो लोग जो आये हैं बज़्म ए मातम में
खुशा वो हाथ जो पीटे हुसैन के ग़म में
वो दिल हो ख़ाक न हो जिस में अहल ए बैत का ग़म
वो आँख फूटे जो रोई न हो मुहर्रम में
–लाला मातादीन श्रीवास्तव हशमती अज़ीमाबादी

हशमती अज़ीमाबादी की ग़ज़लों में कर्बला के वाक़यात और उनसे पैदा होने वाले असरात बहुत ज़ाहिरी तौर पर नज़र आते हैं।

जितना रोता हूँ हरी होती है उससे किश्त ए ग़म
दामन-ए-अब्र-ए-बहारी दीदा-ए-तर हो गया

सीना तो मुद्दत से है मातमसरा अये हशमती
एक दिल बाक़ी था वो भी दर्द का घर हो गया

अज़ीमाबाद के इमामबाड़ों पर ज़यारत करने वालों की भीड़ होती थी, हशमती ने अपनी ग़ज़ल के एक शेर में अपने माशूक की ड्योढ़ी को ज़ियारतगाह से मिला दिया है।

आप की ड्योढ़ी भी क्या कोई ज़्यारतगाह है
जब न तब देखो खड़े रहते हैं दर पर सैंकड़ों

कर दिया जोश ए फ़ुग़ाँ ने जा बा जा सीने को चाक
हो गए दिल की नज़र बाज़ी को अब दर सैंकड़ों

जब मुहर्रम में जुलूसों का जिक्र हो रहा था तो साथ-साथ यह भी बात हुई थी कि जब मातम का ज़ोर बढ़ता तो लोग छुरी से अपनी पीठ और अपना सीना चाक करने लगते थे। पटना की सड़कों पर मुहर्रम की दसवीं तारीख को आज भी यह देखने को मिलता है। हशमती का यह शेर उसी नज़ारे की अक्कासी करता है।

उल्लेख :

1. अजायब उल वारदात, महाराजा कल्याण सिंह आशिक़
2. तज़किरा मुसर्रत अफ़ज़ा, अबुल हसन अमीरुद्दीन अहमद अमीरुल्लाह इलाहाबादी
3. मसनवी महाराजा कल्याण सिंह आशिक़, डॉ. मंसूर आलम
4. सैर उल मुताखरीन, ग़ुलाम हुसैन खान तबातबाई
5. Personal Archives of Prof. Hassan Askari
6. मुंशी केवला प्रसाद फ़क़ीर, रिज़वानुल्लाह, क़ौमी ज़बान कराची, शुमारा 011
7. तज़किरा हिंदू शोअरा ए बिहार, फसीहुद्दीन बल्खी
8. खम्सा ए कामेला, खान बहादुर मौलवी खैरात अहमद

(7)

यादगार-ए-बज़्म-ए-मातम–डॉ. नथुनी लाल वहशी

बातें हमारी याद रहें फिर बातें न ऐसी सुनियेगा
करते किसी को सुनियेगा तो देर तलक सर धुनियेगा
–मीर तक़ी मीर

डॉ. नथुनी लाल वहशी, गुज़रे ज़माने की तहज़ीब और हज़ारों भूले-बिसरे लोगों की यादगार थे। आप 1904 में पैदा हुए और 17 जुलाई 1969 को इस दुनिया को अलविदा कह गए। वहशी अज़ीमाबादी का वतन पटना था मगर आप मुस्तक़िल तौर पर मुजफ्फरपुर में रहा करते थे। यूं तो डॉक्टर थे मगर शायरी शौक़ का हिस्सा थी। "अल्लामा जमील मज़हरी साहब के वालिद मौलाना सय्यद खुर्शीद हसनैन साहब को आप पहले अपने कलाम दिखाते थे और उनसे इस्लाह लिया करते थे फिर उनके गुज़र जाने के बाद आपने अल्लामा जमील मज़हरी साहब को अपने अशआर दिखाए, और वक़्त के साथ उस्तादी और शागिर्दी का ये रिश्ता दोस्ती में बदल गया।"[1]

अल्लामा जमील मज़हरी के बेटे जनाब हसन शकील मज़हरी ने वहशी साहब के हवाले से कहा कि, "मैंने जब शऊर की आँखें खोलीं तो डॉ. वहशी मज़हरी को जिन्हें हम लोग डॉक्टर बाबा कहते थे, घर के एक बुज़ुर्ग की हैसियत में देखा। अब्बा (जमील मज़हरी साहब) से उनकी दोस्ती बहुत गहरी थी। वो हमारे घरेलू और निजी मुआमलात में भी दख़ील थे और

इस हद तक की शादी-ब्याह भी उनकी राय से तय पाते थे। वहशी साहब की ज़िन्दगी का ज़्यादातर हिस्सा मुजफ्फरपुर और कलकत्ते में बीता। वह होमियोपैथ के डॉक्टर थे मगर कभी इसे पेशे के तौर पर इख़्तेयार नहीं किया। 1949 में आप मुलाज़मत के सिलसिले में कलकत्ते आ गए थे और एक स्कूल में मुलाज़मत करते थे।"[2]

जनाब वहशी का ज़िक्र इल्मी-ओ-अदबी तज़किरों और तारीखों में नहीं मिलता, हद तो ये है के तज़किरा-ए-हिंदू शोअरा-ए-बिहार भी वहशी के ज़िक्र से ख़ाली है। ऐसे फ़नकार जिन्होंने उर्दू शायरी में मिली-जुली गंगा-जमुनी तहज़ीब की अक्कासी की हो उन्हें पिछली 3-4 दहाइयों में कोई आला अदबी मुक़ाम नहीं मिला । इस पसमंज़र में वहशी के मर्सिये एक खुसुसी अहमियत के हक़दार हैं। "उनके मर्सिये में न सिर्फ हिंदुस्तानी समाजी पसमंज़र, हिंदुस्तानी तहज़ीब ओ कल्चर, हिंदू माइथोलॉजी और छवियां इस्तेमाल हुई हैं बल्कि इस्लाम से जुडी चीज़ों का एक मिला जुला अक्स-नामा भी पेश हुआ है। हिंदुस्तानी गंगा जमुनी तहज़ीब को अरब की मज़हबी और सक़ाफ़ती तहज़ीब से जोड़ना एक मुश्किल काम है फिर भी वहशी ने ये काम बहुत ख़ूबसूरती से अंजाम दिया है।"[3]

अज़ीमाबाद में जो अदब गंगा जमुनी तहज़ीब के सांचे में ढल रहा था वह जब 20वीं सदी के शुरुआती हिस्से में अपने शबाब पर पहुंचा तो उसने एक ऐसा रंग धारण किया जिसमें हिंदुस्तानी तहज़ीब, देवमालाई ढंग और कर्बलाई इसतयारे आपस में इस तरह मिल गए जैसे वह कभी अलग न थे।

वहशी साहब का यह मर्सिया इस शबाब की यादगार है जहां एक ही लय में कुरुक्षेत्र और कर्बला पिरो दिए गए। एक तरफ़ जहां मुसलमानों पर उंगली भी उठाई गई कि वह कैसे मुसलमान थे जिन्होंने अपने नबी के नवासे को ख़ुद अपने हाथों से क़त्ल कर दिया वहीं उस इस्लाम का उदाहरण भी पेश किया गया कि जिसको बचाने के लिए हुसैन ने अपनी जान कुर्बान कर दी।

इस मर्सिये में 20वीं सदी की सियासी उथल-पुथल और सांप्रदायिक हिंसा की धधकती हुई आग की तरफ इशारा भी है, और हुसैन के ग़म से अपने दिलों को नर्म रखने का सहारा भी।

यह मर्सिया अपनी तरह का वाहिद मर्सिया है, लिहाज़ा इसके कुछ बंद पेश किये जा रहे हैं।

फिर आज दिल में मुहब्बत की उठ रही है उमंग
फिर आज ज़ौक़-ए-सुख़न को है एक नया आहंग
फिर आज रंग-ए-तबियत दिखायेगा नैरंग
फिर आज पेश-ए-नज़र है कुरुक्षेत्र की जंग

फिर आज जौहर-ए-तेग़-ए-ज़बां दिखाना है
फिर आज गुलशन-ए-हुस्न-ए-बयाँ सजाना है

कुरुक्षेत्र है तारीख़ में अजब मंज़र
है दोनों सिम्त अइज़्ज़ा-ए-ख़ास का लश्कर
वफ़ूर ए शर्म से तलवारें सब झुकाएं हैं सर
झिझक रही हैं कामनें झपक रही है नज़र

अलम भी अपने फरहरे से मुंह को ढाँपता है
बस इन्तहा है के अर्जुन का हाथ कांपता है

ख़्याल ये है के अपनों को तीर क्या मारें
अब इस में जीत हो या बीच खेत रण हारें
मगर बहें न अज़ीज़ों के खून की धारें
जो नफ़्स कश हैं उन्ही के लिए हैं जय कारें

इलाक़ा क्या है शुजाअत को बेहयाई से
जिहाद-ए-नफ़्स है अफ़ज़ल हर एक लड़ाई से

ये उनका ज़िक्र है कहते हैं काफ़िर आप जिन्हें
मगर खुदा के लिए ये भी ग़ौर फरमायें
के वो मुजाहिद-ए-इस्लाम जिनकी तलवारें
लहू ख़ुद अपने नबी की अयाल का चाहें

जो ख़ीरा कर चुके हों दुश्मनों से आँख अपनी
मिला सकेंगे वो इन काफ़िरों से आँख अपनी

डॉ. नथुनी लाल वहशी रेवायती अंदाज़ में अपना मर्सिया शुरू करते हैं और पहली तस्वीर कुरुक्षेत्र के मैदान की खींचते हैं जहां कौरवों और पांडवों के दरमियान जंग होनी है। दोनों तरफ़ अपनों की फ़ौज है और हालात यह हैं की तलवारें शर्म से अपना सर झुकाए हैं और फ़ौजी निशान अपने फरहरों से अपना मुंह छुपा रहे हैं। धनुर्धारी अर्जुन मैदान के एक तरफ़ खड़े इस मंजर को देख रहे हैं और उनका हाथ हमला करने के ख़्याल से थरथरा रहा है। हर मुमकिन कोशिश है कि अपनों से लड़ाई ना की जाए अब चाहे इस में जीत हो या हार का सामना करना पड़े मगर हर हाल में अपनों के ख़ून न बहे।

अगले बंद में वहशी मुसलमानों से मुखातिब होकर कहते हैं कि कुरुक्षेत्र में तो वह लोग हैं तो जिन्हें आप काफ़िर कहते हैं मगर यह बताएं कि वह इस्लाम के मुजाहिद की जिनकी तलवारें खुद अपने नबी की औलाद की गर्दनों पर चलीं क्या वह मुसलमान ऐसे काफिरों से अपनी आंखें मिला सकेंगे कि जिनके हाथ बस इस ख़्याल से थर्रा रहे थे कि कहीं अपनों के हाथों अपनों का खून ना बहे।

खुदा परस्तों को नशा चढ़ा हुकूमत का
मिज़ाज मस्ख़ किया इस तरह शरीअत का
के खून हो गया क़ौम-ए-अरब की ग़ैरत का
हया ख़िजिल हुई सर झुक गया शराफ़त का

कहाँ से लाएंगे कुफ़्फ़ार-ए-वक़्त ऐसे हाथ
के मारें तीर से बच्चों को और न काँपें हाथ

एक ऐसा दीन जो फौजी निज़ाम हो बा-ख़ुदा
फ़क़त ग़ुरूर-ए-फतुहात जिस का सरमाया
न जिस में राम की ग़ैरत न लक्ष्मण की वफ़ा
न जिस में जज़्बा ए सोक़रात ओ गौतम ओ ईसा

बहाये ख़ून जो तक़वियत ए ख़ुदी के लिए
कहाँ से आएगी उसमें जगह अली के लिए

वहशी कुरुक्षेत्र और कर्बला के बीच तुलना करते हैं। कहते हैं कि मुसलमान जिन्हें काफ़िर समझ रहे हैं वह काफ़िर चाह कर भी वो हाथ नहीं ला सकते जो बिना थर्राए बेहिचक कर्बला के मैदान में पैगंबर मोहम्मद के ख़ानदान के बच्चों के जिस्म पर तीरों की बारिश कर रहे थे। वह मुसलमानों के बदले रंग रूप और इस्लाम की बदली शक्ल के ऊपर जुमले कसते हैं और कहते हैं कि इस्लाम एक फौजी निज़ाम में बदल चुका है जहां ग़ुरुर के अलावा किसी चीज की जगह नहीं। ना इस दीन में राम की ग़ैरत है ना लक्ष्मण की वफ़ा, ना सुक़रात, ना गौतम बुद्ध, ना ईसा का जज़्बा है। वह लिखते हैं कि वो दीन जिसके मानने वाले अपने मन की तसल्ली के लिए ख़ून बहाने को तैयार है उस दीन में हज़रत अली की कोई जगह नहीं हो सकती।

अली वो क़िस्मत-ए-इंसां का रहबर-ए-आज़म
नज़र में जिसकी बराबर से सब बनी आदम
ग़ुलाम हो के हो आक़ा अरब हो या हो अजम
हर एक हिस्सा मुऐय्यन न उस में वेष न कम

ख़ुदा का ज़ोर था बाज़ू-ए-अद्ल में जिसके
तुली ख़िरद भी तराज़ू-ए-अद्ल में जिसके

इसी सियासत-ए-कुबरा के तर्जुमां थे हुसैन
पहुँच सका न ज़माना जहाँ वहाँ थे हुसैन
हुक़ूक़-ए-बंदा-ओ-आक़ा के पासबाँ थे हुसैन
पेदर की तरह ग़ुलामों पे मेहरबाँ थे हुसैन

छुपा है नुक़्ता-ए-ईमान इस हकीकत में
के ख़ून-ए-जौन है पैमाना-ए-शहादत में

न था अरब की तवारीख में सुराग़-ए-बशर
हर एक सफ़्हा था इंसानियत के ख़ून से तर
हर एक क़ौम थी दुनिया की तानाज़न उस पर
झुका था शर्म के एहसास से ग़रीब का सर

मगर उठा दिया अब्बास की वफ़ा ने उसे
दिया ग़ुरूर-ए-शरफ़ मीर-ए-कर्बला ने उसे

डॉ. नथुनी लाल आगे इस बात का विवरण करते हैं कि आख़िर इस बदले हुए दीन में अली की जगह क्यों नहीं हो सकती? वह लिखते हैं कि अली वह थे कि जिनकी निगाह में सब बराबर थे। चाहे वो अमीर हों या ग़रीब, अरब हों या अजम, अली की नज़र में सब की बराबर हिस्सेदारी थी। वह आगे लिखते हैं कि अपने पिता अली की तरह इमाम हुसैन भी गरीबों के लिए एक सहारा थे और हर आदमी के हक़ और अधिकार के मुहाफ़िज़ थे।

कैसे माहौल में कि जब अरब में इंसान होना बहुत मुश्किल था और उसकी तारीफ का हर पन्ना इंसानियत के खून से लथपथ हो चुका था और इस्लाम का सर शर्म के मारे झुक चुका तभी हुसैन के भाई अब्बास की वफ़ा ने उसके सर को उठा दिया और हुसैन की कुर्बानी ने उसे हमेशा हमेशा के लिए सुर्ख़रू कर दिया।

सलाम उस चमन आरा-ए-बाग़-ए-फ़र्दा को
लहू ने जिसके अता की बहार सहरा को
वो जिसने ज़िंदा किया सुन्नत-ए-मसीहा को
हयात बख्श दी जिसने मरीज़-ए-दुनिया को

मरज़ का ज़ोर बढ़ा तो सुकूँ दिया अपना
हुई जो खूं की ज़रुरत तो खूं दिया अपना

वहशी साहब ने मुसलमानों को एक आईना दिखाया और उस दौर में आईना दिखाया कि जब मुसलमानों के दरमियान सांप्रदायिकता बढ़ती नज़र आ रही थी। उन्होंने पुरानी तहज़ीब की लाज रखते हुए लोगों को याद दिलाया कि कर्बला के मैदान में ज़ालिम भी मुसलमान थे

और ज़ुल्म सहने वाले भी मुसलमान थे, क़त्ल होने वाले भी मुसलमान थे और क़त्ल करने वाले भी। फिर इस तरफ भी इशारा किया कि यह मुसलमान जो हिंदुओं को काफ़िर कहते हैं उन मुसलमानों से यह काफ़िर लाख बेहतर हैं के इन्होंने कम से कम हुसैन का क़त्ल तो नहीं किया। इनके हाथ मुसलमानों की तरह हुसैन के ख़ून से रंगे तो नहीं। वहशी साहब ने उन मुसलमानों को भी जवाब दिया जो हुसैन के ग़म और मुहर्रम के मातम को ग़लत ठहराते थे, उन्होंने याद दिलाया की तकलीफ़ में आपका अपना ही आपके साथ खड़ा होता है और हुसैन के मातम के ख़िलाफ़ उठने वाली आवाज़ों को इन्होंने उन्हीं आवाज़ों से मिलाया जो कर्बला के मैदान में हुसैन के ख़िलाफ़ उठीं थीं।

इन तमाम बातों से दूर उन्होंने कर्बला में इमाम हुसैन के भाई हज़रत अब्बास की वफ़ादारी को श्री राम के भाई हज़रत लक्ष्मण की वफ़ादारी से मिला दिया, दोनों भाइयों ने हर हाल में अपने भाई का साथ दिया और उनके मक़सद को कामयाब करने में अपनी जान लगा दी। यह मर्सिया एक तरफ़ सांप्रदायिक मानसिकता के चेहरे पर थप्पड़ लगता नजर आता है और वहीं एक आईना भी दिखता है और फिर हिंदुओं और मुसलमानों के दरमियान एक पुल बांधने का काम भी करता है कि जब दोनों मज़हबों के बीच समानताएं नज़र आती हैं तो दूरियां अपने आप मिटने लगती हैं।

यही कमाल था अज़ीमाबाद की गंगा जमुनी तहज़ीब के सांचे में ढली अज़ादारी का कि मज़हबों के बीच हज़ार मतभेदों के बावजूद लोगों को एक दूसरे का बग़लगीर बना दिया।

उल्लेख :

1. उर्दू मर्सिया निगरी का इर्तिक़ा, डॉ. मुहम्मद अरमान हुसैन
2. उर्दू मर्सिये का सफ़र, सय्यद आशूर काज़मी
3. तब ए रसा, जाबिर हुसैन

(8)

ग़ुबार-ए-कारवां

(अज़ीमाबाद में अज़ादारी के संस्थापक नवाब अहमद अली खान क़यामत के खानदान के चश्म ओ चराग़ सय्यद फैज़ान रज़ा साहब से बात चीत के कुछ अंश)

दूलीघाट के नवाब सय्यद निजात हुसैन ख़ान बहादुर आशिक अज़ीमाबादी के पोते नवाब सय्यद मोहम्मद हैदर ख़ान साहब के परिवार से ताल्लुक़ रखने वाले फैज़ान रज़ा साहब, मौजूदा दौर में अज़ीमाबाद की साझी विरासत की यादगार हैं।

फैज़ान रज़ा साहब बताते हैं के जब उन्होंने आँखें खोलीं तो ये शहर बहुत बदल चुका था मगर, फिर भी गए वक़्त के तौर-तरीक़े पटना में गाहे-बा-गाहे देखने को मिल जाते थे।

"मुझे याद है कि अस्सी के दशक तक जब सिटी चौक के इलाक़े से आठ मुहर्रम का जुलूस गुज़रता था तो अशोक राजपथ के किनारे किनारे गुरुद्वारे तक, सिख क़ौम के लोगों और ख़ास तौर पर सिख व्यापारियों और दुकानदारों की एक लम्बी क़तार होती थी जो जगह-जगह पे सबीलें लगाए, जुलूस में मौजूद अज़ादारों के बीच दूध के शरबत तक़सीम किया करते थे।"

वह कहते हैं कि आज भी, अगरचे अब चौक के इलाक़े में ये नज़ारा शायद ही कहीं देखने

को मिलता हो मगर, 10 मुहर्रम को चेहलुम के रोज़ जब शाम ढलने पर अज़ादार अपने सीने पीटते हुए अशोक राजपथ से गुज़रते हैं तो पश्चिमी दरवाज़े, शेर शाह रोड और मीना बाज़ार के ज़्यादातर हिंदू दुकानदार और व्यापारी आज भी सबीलें लगाते हैं, अपनी दुकानों की सीढ़ियों पर खड़े हो कर शरबत, फल और तरह-तरह की चीज़ें अज़ादारों में तक़सीम करते हैं और इमाम हुसैन से अपनी मुहब्बत का सुबूत देते हैं।

रज़ा साहब के मुताबिक़ मुहर्रम के जुलूस में हिंदू हज़रात का सबीलें लगाना और अज़ादारों के बीच शरबत तक़सीम करना अज़ीमाबाद की पुरानी तहज़ीब का एक मुख़्तसर उदाहरण है जो ज़माने की तमाम तब्दीलियों के बावजूद इस शहर की तहज़ीबी दास्तान की विरासत संभाले हुए है।

गुज़रे ज़माने में अक्सर हिंदू बुज़ुर्ग, अज़ादारी भी करते थे और मुहर्रम के दिनों में सबील का इंतज़ाम भी। राय सुल्तान बहादुर, राय बादशाह बहादुर, कल्याण सिंह आशिक़, बाबू बेनी प्रसाद, दुर्गा प्रसाद साहब जैसे कई बुज़ुर्ग मुहर्रम की दसवीं तारीख़ को सबीलें लगाते थे, इमाम हुसैन का फ़ातिहा दिलवाते और खीर, खिचड़ा और शरबत तमाम शहर में बंटवाते थे।

अज़ादारी के हवाले से ये बात भी अहम है के जहां हिंदू हज़रात मुहर्रम की रस्मों में बढ़-चढ़कर हिस्सा लेते थे वहीं वो अपने घरों में इमामबाड़े भी सजाते थे और ताज़िये और सिपर भी रखते थे। यहाँ पर इस बात का ज़िक्र करना भी ज़रूरी है के पटना का मोहल्ला झाऊगंज जो सिटी चौक से बिलकुल क़रीब है, वो अवध के नवाब आसिफ़ुद्दौला के वज़ीर राजा झाऊ लाल का बसाया हुआ है। राजा झाऊ लाल अवध के मशहूर शायर और मर्सिया निगार छन्नू लाल दिलगीर के भाई थे और जब हालात खराब हुए तो आपने पटना में रिहाइश इख़्तेयार की। लखनऊ में राजा झाऊ लाल का इमामबाड़ा शायद अब भी मौजूद है मगर पटना में जो इमामबाड़ा राजा झाऊ लाल ने बनवाया था अब उसके निशानात भी नज़र नहीं आते। राजा झाऊ लाल की तरह ही हिंदुओं के कई इमामबाड़े अब तारीख़ में कहीं खो गए हैं (हालांकि ये बात सिर्फ हिंदुओं तक सीमित नहीं, शिया ख़ानदानों के भी अक्सर इमामबाड़ों का यही हाल है) मगर इन इमामबाड़ों और इन लोगों की यादगार इस शहर में अब भी कहीं-कहीं ज़रूर नज़र आ जाती है।

“गुमशुदा नामों में एक मशहूर रईस जय बाबू का नाम भी शामिल है। जय बाबू बड़ी धूम

धाम से मुहर्रम में अज़ादारी किया करते थे, ताज़िया भी रखते थे और अखाडा भी निकालते थे मगर अब वो भी अपनी तमाम शान ओ शौकत के साथ एक क़िस्सा बन कर रह गए हैं।"

"पटना के मोहल्ले बेलवरगंज में एक बड़ी पुरानी मगर बेहद खूबसूरत कोठी हुआ करती थी। ये आँखों देखा हाल है के जब इमाम हुसैन के चेहलुम का जुलूस उस रास्ते से गुज़रता तो हर साल, हस्ब ए दस्तूर उस कोठी का दरवाज़ा खुलता और एक औरत, जो उस कोठी की मालकिन थीं वो नंगे पैर बाहर आतीं और मातम करने वालों पर गुलाबपाश से गुलाबजल छिड़का करती थीं और जब जुलूस वहां से आगे बढ़ जाता तो वो ख़ामोशी के साथ अपनी कोठी में लौट जातीं और फिर वो दरवाज़ा बंद हो जाता।"

इसी बेलवरगंज में बाबू दामोदर प्रसाद रहा करते थे और इस मोहल्ले में सिपर, ताज़िये और अखाड़े की सभी ज़िम्मेदारियाँ बड़े नाज़ के साथ अंजाम देते थे।

"पटना में हिंदू औरतों की जो इमाम हुसैन से अक़ीदत है उसकी मिसाल शायद ही कहीं देखने को मिले। आज भी मुहर्रम के जुलूसों में जब एक घोडा इमाम हुसैन की सवारी ज़ुलजनाह की याद में सजाकर जुलूस में शामिल किया जाता है तो कई हिंदू औरतें अपने नन्हें-नन्हें बच्चों को गोदियों में लिए ज़ुलजनाह के क़रीब आती हैं और अपने बच्चों को ज़ुलजनाह के क़दमों पर रख कर उन्हें इमाम हुसैन की सवारी के सदक़े कर देती हैं।"

अब तक जिन चीज़ों का भी ज़िक्र हुआ ये अरब या इराक की तहज़ीब का हिस्सा नहीं थीं, सिपर, ताज़ियादारी, अखाड़े ये सब ख़ालिस हिंदुस्तानी गंगा-जमुनी तहज़ीब की उपज हैं, और हमारे लिए ये फख्र की जगह है कि हमारी बस्ती इस गंगा-जमुनी तहज़ीब का एक अहम मरकज़ रही है।

(9)

रंग और रूप की महफ़िलों से दर्द-ओ-ग़म की मजलिसों तक

(अज़ीमाबाद की अज़ादारी में तवायफ़ों की हिस्सेदारी)

हिन्द में रह के क्या करें ज़ोहरा
अज़म बिलज़्ज़म कर्बला का है
–ज़ोहरा बाई पटने वाली

किसी भी बस्ती की तहज़ीबी दास्तान में सब से बड़ा और अहम किरदार उस बस्ती के फ़नकारों का होता है और तवायफ़ें वह फ़नकार हैं जिनका हक़ तारीख़ ने हमेशा उनसे छीना है। अज़ीमाबाद अपनी तमाम ख़ासियतों और ख़ुसूसियतों के बावजूद ये दाग़ अपने दामन से न धो सका और इस शहर ने भी अपनी तवायफ़ों का हक़ उनसे छीन लिया।

मुहर्रम में तवायफ़ें भी बड़े एहतेराम के साथ अपने घरों में मजलिसें करतीं थीं। इन मजलिसों में हदीस-ख़्वानी भी होती और मर्सिया-ख़्वानी भी मगर तवायफ़ों के यहां होने वाली अज़ादारी में सब से मख़सूस चीज़ सोज़-ख्वानी और नौहा-ख़्वानी थी। सोज़-ख़्वानी और नौहा-ख़्वानी में इमाम हुसैन की शहादत के वाक़ये को कुछ इस तरह राग में पिरोया जाता कि सुनने वालों

के दिल छलनी हो जाते। जब नौहे पढ़े जाते तो पटना की तवायफ़ें मिल कर मातम करतीं और इस ज़ोर का मातम होता की ज़मीन-ओ-आसमान थर्राने लगते। ये तवायफें रईसों के यहां जाकर उनके घरों की औरतों को अपनी मजलिसों में बुलातीं और मजलिसों में तरह-तरह की खाने की चीज़ें तक़सीम करतीं। "एक बार अज़ीमाबाद की बड़ी मशहूर तवायफ बी छुट्टन ने चाँदी की थालियों में हज़ारों हिस्से तक़सीम किये थे।"[1]

नौहा-ख़्वानी के लिए पटना में दो जगहें बहुत मशहूर थीं – एक तो बेगम का इमामबाड़ा और दूसरा शाह अरज़ां का इमामबाड़ा। शहर की नामी तवायफ़ें मुहर्रम की नौ और दस तारीख़ को यहाँ मजलिसें करतीं और दूर-दूर से लोग उनकी नौहा-ख़्वानी और सोज़-ख़्वानी सुनने आया करते थे।

नौहा-ख़्वानी के लिए बी कनीज़ बड़ी मशहूर थीं, जब वो अपनी दर्द भरी आवाज़ में नौहे पढ़तीं तो दिल मोम बन कर पिघलने लगते थे। मगर न तो अब वह लोग रहे, न वह आवाज़ें और अब बेगम का इमामबाड़ा भी खंडहर में तब्दील हो चुका है।

पटना में शीरीं नाम की एक बड़ी मशहूर तवायफ़ रहा करती थीं जिनका घर उसी रास्ते पर था जिस रास्ते से आठ मुहर्रम को अलम का जुलूस गुज़रता है। उनकी दिली तमन्ना थी कि जब अलम का जुलूस उनके घर के क़रीब से गुज़रे तो वह एक नौहा पढ़ कर इमाम हुसैन से अपनी मोहब्बत और अक़ीदत का इज़हार करें। उन्होंने लोगों से अपनी ये ख्वाहिश ज़ाहिर की और शहर के शायरों से ये गुज़ारिश की कि वह उन्हें एक नौहा कह कर दे दें जिसे वो हर साल आठ मुहर्रम को पढ़ा करेंगी।

ये ज़माना आज़ादी के बाद का था और लोग अब शहर की तवायफ़ों से दूरी बनाने लगे थे। किसी सूरत शीरीं की इस ख़्वाहिश की खबर अज़ीमाबाद के मशहूर शायर जनाब इरतज़ा हुसैन होश अज़ीमाबादी तक पहुंच गयी, और उन्होंने मुहर्रम से पहले शीरीं को एक नौहा कहलवा भेजा। इस नौहे की खासियत ये थी कि यह नौहा उनकी हमनाम, इमाम हुसैन की एक कनीज़ शीरीं के हाल का था जिन्हें इमाम हुसैन ने आज़ाद कर दिया था और उनकी शादी मदीने से बहुत दूर शाम में हो गयी थी। शीरीं ने जाते-जाते इमाम हुसैन से वादा लिया था कि आप मेरे घर ज़रूर आएंगे और इमाम ने भी जवाब में हामी भरी थी कि वह अपने घर-भर को लेकर शीरीं से मिलने आएंगे। दिन गुज़रते गए और शीरीं इंतज़ार करती रही, इसी बीच

कर्बला का वाक़्या पेश आया और हुसैन और उनके बच्चों, भतीजों, भाइयों और दोस्तों को क़त्ल कर दिया गया, उनके घर की औरतों को क़ैद कर लिया गया और इमाम हुसैन के साथ सारे शहीदों के कटे हुए सर भाले की नोक पर चढ़ा दिए गए और यूँ ही इन्हें गलियों बाज़ारों में फिराते हुए, यज़ीद के पास ले जाया गया। इसी रास्ते में शीरीं का घर था, जब शीरीं ने अपने घर के बाहर देखा तो उसे इमाम हुसैन का कटा हुआ सर नैज़े की नोक पर नज़र आया और इमाम हुसैन का शीरीं से किया हुआ वादा इस तरह वफ़ा हुआ।

होश अज़ीमाबादी ने ये पूरा क़िस्सा एक नौहे में कह कर इमाम हुसैन की कनीज़ शीरीं की हमनाम शीरीं को भिजवा दिया। जब आठ मुहर्रम को शीरीं ने अपने घर के झरोखे से अलम का जुलूस क़रीब आते देखा तो उसने यही नौहा पढ़ा और सुनने वालों की निगाहों में वो सारा मंज़र घूम गया। हर मर्द, हर औरत जिसके जिसके कान में शीरीं के उस नौहे की आवाज़ गयी वो बे-साख़ता दहाड़ें मार कर रोने लगा, और जब तक शीरीं ज़िंदा रहीं उन्होंने यह दस्तूर क़ायम रखा।[2]

अफ़सोस की अक़ीदत और मुहब्बत के ऐसे हज़ारों क़िस्से अज़ीमाबाद की ख़ाक में दफ़्न हो गए।

उल्लेख :

1. हकीकत भी कहानी भी, बदरुद्दीन अहमद
2. ये क़िस्सा होश अज़ीमाबादी के शागिर्द जनाब खैरात अहमद साहब साग़र अज़ीमाबादी ने सईद फ़ैज़ान रज़ा साहब को सुनाया था।

(10)

अज़ीमाबाद की साझी विरासत में मुसलमानों का हिस्सा

कृष्ण का हूँ पुजारी, अली का बंदा हूँ
यगाना शान ए ख़ुदा देख कर रहा न गया
–मिर्ज़ा वाजिद हुसैन यास यगाना चंगेज़ी अज़ीमाबादी

अब तक मुहर्रम के हवाले से अज़ीमाबाद की अज़ादारी में इस शहर के हिंदू हज़रात और दीगर समुदाय के लोगों की हिस्सेदारी का ज़िक्र हुआ, मगर ये तो दो महीने आठ दिनों की बात थी।

अरबी कैलेंडर के तीसरे महीने रबी अव्वल की आठवीं तारीख़ को मजलिसों, जुलूसों और मातमों का सिलसिला ख़त्म होता जाता मगर ग़म की तारीखों के गुज़र जाने के बाद आम दिनों में भी हिंदू और मुसलमान सड़कों पर, मेलों में, तफ़रीह-गाहों में, शादियों में, या ग़म के मौक़ों पर इस तरह मिलते और साथ-साथ रहते कि पहचानना मुश्किल था कि कौन मुसलमान है और कौन हिंदू। तसव्वुफ़ और जोग ने आपसी और मज़हबी मतभेद कुछ इस तरह से ख़त्म कर दिए थे कि पटना की मस्जिदें और मंदिर एक तौर पर आबाद नज़र आते थे। जोग के रंग में ढले हुए राजा भरथरी के अफसाने मुसलमानों को मोह लेते और मौलाना रूमी की मसनवी का नग़मा हिंदुओं के सर चढ़कर बोलता था। यहां के त्योहारों में जो एकता

और यकजहती का मंज़र नज़र आता था उनको फिर देखने के लिए आंखें तरसती हैं। ईद हो या दशहरा शब-बरात हो या दीपावली, हिंदू और मुसलमान दोनों मिल-जुल कर बड़ा ही दिलनवाज़ नज़ारा पेश करते थे। (1)

"अजीमाबाद में होली बड़ी धूमधाम से मनाई जाती थी। जिन लोगों के खानदान ईरान से आए थे उनके घरों में नौरोज़ का जश्न मनाया जाता और रंग खेलना बड़ी आम सी बात थी। जब नौरोज़ के रंग में रंगे ईरानी मुसलमानों ने हिंदुस्तान में होली के रंग देखे तो एक बार फिर दो तहज़ीबों का संगम तैयार हुआ। जिस तरह मुहर्रम में हिंदू शायर नौहे, सलाम और मर्सिया कहते, अज़ादारी करते उसी तरह होली में मुसलमान शायर होली के गीत कहा करते और होली के जश्न में शामिल होते।" (2)

सांवर चितर बांकी अलबेली
रस भरी नैनन भोली-भाली
ब्रज में आई होली खेलन को
सब सखियन से चाल निराली
शाद पिया तुम हमका न छेड़ो
आप मध में मतवाली
–सैयद अली मोहम्मद ख़ान शाद अज़ीमाबादी

सांवले बांके नैनवा छुपाए जात
पग धरत सौ-सौ बल खाए जात
सुल्तान पिया के नैन जुलम हैं
तिरछी नजर मुसकाए जात
–सुल्तान मिर्ज़ा

"राजा प्यारे लाल उल्फ़ती के पोते कुंवर सुखराज बहादुर की कोठी पर बड़ी धूमधाम से जन्माष्टमी का जश्न मनाया जाता इस घर में दूर-दूर तक मज़हबी मतभेद की बू-बास नहीं थी। अक्सर मुसलमान इस जश्न में शामिल होते और ख़ूब शेरी महफ़िलें होतीं। शाद ने भी कृष्ण भक्ति में जो शेर कहे हैं वह कुंवर सुखराज बहादुर की फ़रमाइश पर इसी जश्न के लिए कहे होंगे।" (3)

शाद अज़ीमाबादी के पोते नक़ी अहमद इरशाद साहब की दोस्ती कुंवर सुखराज बहादुर के नवासे पीतांबर साहब से थी और उनके साथ अक्सर दशहरे और जन्माष्टमी के जश्न में शामिल होते थे। वह लिखते हैं कि दशहरे के ज़माने में मुंशी कालका प्रसाद की मसनवी पढ़ी जाती जिसमें श्री रामचंद्र जी का क़िस्सा यानी पूरी की पूरी रामायण उर्दू में नज़्म की गई थी। नक़ी अहमद इरशाद साहब का कहना है कि इस घर में दीपावली के मौके पर गणेश पूजा भी होती थी मगर यह भी फ़ारसी और उर्दू के इस्तेमाल से की जाती थी।

आपस में मेल मिलाप इस क़दर था कि हिंदू और मुसलमान परिवारों में दोस्ती ही नहीं बल्कि रिश्तेदारियां भी थीं। एक तरफ मुसलमानों ने हिंदू रस्मों और रिवाजों को अपनाया तो वहीं दूसरी तरफ हिंदुओं ने रमज़ान में रोज़े भी रखे। धर्म बदलना कोई बड़ी बात नहीं थी और कोई उस पर सवालिया निशान भी नहीं उठाता। मीर तक़ी मीर अपनी एक मसनवी में पटना के मोहम्मद हसन साहब का ज़िक्र करते हैं जिन्होंने इश्क़ में अपना मज़हब छोड़कर, परसराम नाम के साथ हिंदू धर्म अपना लिया था।[4] वहीं जसवंत राय नागर के बेटे मोहम्मद रोशन हो गए जिन्हें उर्दू अदब की तारीख़ जोशिश अज़ीमाबादी का नाम से जानती है।[5]

आपस में शादी-ब्याह भी बहुत आम थे। दूलीघाट के नवाब सैयद अमीर हसन ख़ान बहादुर अमीर अज़ीमाबादी की एक पत्नी लाल कुंवर बेगम भी थीं और उनके भतीजे नवाब मोहम्मद अमीर ख़ान बहादुर की शादी महाराजा टेकारी की बेटी से हुई थी।

नवाब अमीर हुसैन ख़ान बहादुर साहब ने भी कृष्ण भक्ति में गीत लिखे और उनके गीत अज़ीमाबाद की बोलचाल की ज़बान में अवधी के असरात भी उजागर करते हैं।

कहो मोरे मोहन कहो कुछ तो प्यारे
गए रूठ क्या मेरी आँखों के तारे
ढली रात अब तक न काहे पधारे
ये दिल हो के बेचैन तुम को पुकारे

कहो मोरे मोहन कहो कुछ तो प्यारे

कहो मोरे मोहन ये है नाज़ कैसा
ये पनघट पे छेड़ा नया साज़ कैसा
ये जलवे पे जलवा ये अंदाज़ कैसा
न है आशकारा ये है राज़ कैसा

कहो मोरे मोहन कहो कुछ तो प्यारे

ये कैसी अदा से हैं गेसू सँवारे
हैं ज़ुल्फ़ें तुम्हारी या जमना के धारे
ये आँखें हैं मोती या कहिये सितारे
तेरी हर अदा पे हुए हम तुम्हारे

कहो मोरे मोहन कहो कुछ तो प्यारे
–नवाब सय्यद अमीर हुसैन ख़ान बहादुर अमीर अज़ीमाबादी

अब ना वह लोग रहे ना वैसे जश्न और जलसे मगर इस परिवार ने कृष्ण भक्ति के गीत लिखने की रस्म अब तक बरकरार रखी है। अल्लामा इजतबा हुसैन रिज़वी के बेटे प्रोफेसर मुर्तज़ा अज़हर रिज़वी साहब ने भी इस रस्म को आगे बढ़ाया और एक ऐसी नज़्म लिखी कि पढ़ने वालों के लिए यह फ़र्क करना नामुमकिन हो गया कि वह नज़्म पैगंबर मोहम्मद की शान में है या श्री कृष्ण की।

अये मनमोहन कमली वाले
तेरी जबीं वश-शमस उजाले
ज़ुल्फ़ों की वल-लैल बला ले
अये मनमोहन कमली वाले

ये तेरे नालों का क़रीना
छेद रहा है ज़ात का सीना
दर्द जिगर में होंठ पे छाले
अये मनमोहन कमली वाले

देखी ये बेताबी तेरी
हिज्र में ये बेख्वाबी तेरी
क़ुदरत कितना दिल को संभाले
अये मनमोहन कमली वाले
–प्रोफेसर मुर्तज़ा अज़हर रिज़वी

यह बातें बड़ी काल्पनिक लगती हैं मगर बहरहाल हक़ीक़त हैं।

नवाब निजात हुसैन ख़ान बहादुर अशकी अज़ीमाबादी साहब के ज़माने में जिस तरह राय सुल्तान बहादुर और राय बादशाह बहादुर मुहर्रम की मजलिसों में शामिल होते थे उसी तरह जब छठ का महापर्व आता तो निजात हुसैन खान साहब अपने घाट को बड़ी शान ओ शौकत से सजवाते और छठ का इंतज़ाम करवाते। बाज़ाबता तौर पर यह सब इंतेज़ामात अपनी निगरानी में कराते। यक़ीनन यह उन्हीं बुजुर्गों की कोशिशें का नतीजा है की अज़ीमाबाद यानी पटना का वह पुराना शहर जो पश्चिम दरवाजे से लेकर पूरब दरवाजे के बीच में बसता था, वह शहर आज तक किसी भी सांप्रदायिक आग की भेंट नहीं चढ़ा।

उल्लेख :

1. हकीकत भी कहानी भी, बदरुद्दीन अहमद
2. शाद का अहद-ओ-फ़न, नक़ी अहमद इरशाद
3. करवान-ए-रफ्ता, नक़ी अहमद इरशाद
4. मसनवी शोला-ए-इश्क़, मीर तकी मीर
5. नुस्खा-ए-दिलकुशा, जन्मजय मित्र

(11)

मौजूदा दौर में पटना का मुहर्रम - कुछ यादें कुछ बातें

इस बार जब मुहर्रम के महीने में एक मजलिस में शामिल होने के लिए हम घर से बाहर निकले तो अशोक राजपथ के क़रीब एक पतली सी गली के मोड़ पर बच्चों का एक झुंड नज़र आया। यह बच्चे एक मकान के दरवाज़े पर खड़े एक दूसरे लड़के कृष्णा को आवाज़ दे रहे थे।

"कृष्णा! अरे कृष्णा!"
"हां?"
"चलना है?"
"कहां?"
"मजलिस में!"
"चलो!"

उस घर का दरवाज़ा खुला और एक बच्चा उस झुंड में शामिल हो गया और बच्चों का यह गिरोह हमारे पीछे-पीछे इमामबाड़े तक चला आया।

हक़ीक़त है की पटना अब अज़ीमाबाद नहीं रहा। वे लोग जो शहर की तहज़ीब और संस्कृति की यादगार थे अब जा चुके हैं। मगर कृष्णा और उन बच्चों के बीच होने वाली यह मुख़्तसर सी गुफ़्तगू और फिर कृष्णा का आकर बच्चों के गिरोह में शामिल हो जाना इस बात का सबूत है की पटना चाहे जितना ही बदल गया हो लेकिन अपनी संस्कृति और अपने गुज़रे हुए कल को नहीं भूला।

यहां पर यह कहा जा सकता है कि यह तो बच्चों की बात थी और बच्चे कहीं भी जा सकते हैं मगर हमें अच्छी तरह याद है कि कुछ बरस पहले दशहरा और मुहर्रम एक साथ पड़ गए थे। कुछ लोगों के बीच यह बात हो रही थी कि इस बार मुहर्रम को जुलूस कैसे निकलेगा? दुर्गा पूजा है, मूर्तियों का विसर्जन भी होना है। कहीं सड़क पर कोई तनाव का माहौल ना हो, कहीं कोई परेशानी ना हो जाए। मगर यह सारी बातें बहुत धीमे-धीमे की जा रही थीं। अगर किसी बुज़ुर्ग के कान में यह आवाज चली जाती तो फिर डांट फटकार को टाला नहीं जा सकता था।

नौजवानों के दिल में डर तो था मगर बुज़ुर्गों की आंखों में एक अजीब इत्मीनान था और जब जुलूस सड़क पर निकला तो सब लोगों ने अपनी आंखों से उस इत्मीनान की वजह देख ली।

सड़क के किनारे-किनारे सजे हुए पंडालों के आगे लोग टेबल पर पानी का गिलास सजाए हाथों में जग लिए गुजरने वाले लोगों को शरबत पिला रहे थे। बड़े-बड़े लाउड स्पीकरों पर बजने वाले गीत खामोश थे और जब तक जुलूस उनके आगे से नहीं निकला तब तक वह खामोश ही रहे।

पुलिस वाले भी मौजूद थे और शायद उन्होंने भी यह मंज़र बहुत कम देखा होगा। जिन लोगों के हाथ में जुलूस की बाग डोर थी वह भी बहुत मुत्मइन थे मगर इस बार जुलूस की रफ़्तार ज़रा तेज़ थी। कोशिश यह थी कि हम लोग ज़रा जल्दी सड़क से गुज़र जाएं ताकि वह लोग के जिन्होंने इस जुलूस की वजह से अपने भजन कीर्तन की आवाज मद्धम कर दी है, रोक दी है वह दोबारा अपनी पूजा में लीन हो सकें और जुलूस जल्द ही अपनी मंज़िल यानी शाह बाक़र के तकिया तक पहुंच जाए।

जुलूस जिस रास्ते से गुज़रता है यानि पहले अशोक राजपथ और फिर शेरशाह रोड इन दोनों सड़कों के किनारे-किनारे कई चबूतरे थे जिन पर मुहर्रम के दिनों में सिपर और ताज़िये रखे

जाते थे और दशहरे के मौक़े पर मूर्तियां। उस बार एक और नायाब मंज़र देखने को मिला, इन चबूतरों के ऊपर वैसे ही पंडाल सजाए गए मगर अंदर एक तरफ मूर्ति रखी गई और दूसरी तरफ ताज़िए या सिपर।

मोहल्ला दीवान में सीढ़ी घाट के रहने वाले सुनील कुमार सक्सेना साहब बताते हैं की उनके बचपन से लेकर जवानी तक यह बड़ी आम बात थी। अब शायद हालत बहुत बदल गए हैं मगर उसके बावजूद पटना वालों के लिए यह बातें उनकी जिंदगी का हिस्सा है। सुनील कुमार सक्सेना सब बताते हैं की दीवान मोहल्ले में सीढ़ी घाट और रमजानी चौराहे पर दो इमामबाड़े थे। सीढ़ी घाट का इमामबाड़ा राय सुल्तान बहादुर और राय बादशाह बहादुर के खानदान का था और रमजानी चौराहे वाले इमामबाड़े की सरपरस्ती सुनील कुमार सक्सेना साहब के पड़दादा राय दुर्गा प्रसाद साहब किया करते थे।

"इन दोनों इमामबाड़ों में मुहर्रम के दिनों में ताज़िए और सिपर सजाई जाती थीं। हमने बचपन से इसे दस्तूर की तरह देखा था कि रमज़ानी चौराहे के इमामबाड़े की सिपर बड़ी पुरानी थी और बहुत खूबसूरत सोने और चांदी के ज़ेवरात से सजायी जाती थी। जब तक हम छोटे थे तो बाज़ाबता तौर पर मुहर्रम में सिपर सजाने की जिम्मेदारी और उसकी निगरानी हमारे और हमारे घरवालों के ज़िम्मे होती थी और फिर जब मुलाज़मत के सिलसिले में शहर छोड़ना पड़ा तो अपनी मां के मुंह बोले भाई सफदर मियां को यह ज़िम्मेदारी सौंप दी गई।"

सुनील साहब बताते हैं कि जब सिपर सजाने के बाद निकाली जाती और जुलूस में मुसलमानों के साथ-साथ उस मोहल्ले के हिंदू लड़के और उनके खानदान के लोग भी मौजूद रहते। सच है कि हालात थोड़े-थोड़े तो बदल रहे थे और यही वजह थी कि कभी-कभी कोई किसी हिंदू लड़के से पूछ भी लेता था कि तुम हिंदू होकर सिपर क्यों उठा रहे हो तो वह बहुत आत्मविश्वास के साथ यह जवाब देता था कि यह हमारे घर की संस्कृति का हिस्सा है। अक्सर लोग इमामबाड़ों पर मन्नतें मानते थे और जब वह पूरी हो जाती है उसकी तो सिपर के जुलूस में हिस्सा लेते और अपने कंधों पर सिपर ले कर गश्त करते थे।

अब रमजानी चौराहे के इमामबाड़े पर सिपर की जगह ताज़िया सजाया जाता है मगर कई जगह यह दस्तूर अभी भी क़ायम है। धवलपुरा कोठी के रहने वाले हर्ष रोहतगी साहब का कहना है की मुहर्रम के जुलूस में जब सलाखे से सिपर का जुलूस निकलता है तो वह सलामी

के लिए उनके मकान पर आता है और दस्तूर के हिसाब से धवलपुरा कोठी के लोग नज़राना पेश करते हैं। वह कहते हैं कि यह कब से हो रहा है और क्यों हो रहा है इसका तो कोई अंदाजा नहीं मगर यही तरीक़ा है और यही होता है।

सुनील कुमार सक्सेना साहब ने एक बात और बताई की मुहर्रम में जब सबीलें लगती थीं तो उनके घर से शर्बत की सामग्री ले जायी जाती और वहीं शर्बत बनाकर अज़ादारों में तकसीम किया जाता था। "10 मुहर्रम को शिया घरों में चूल्हा नहीं जलता और हमारे घर का यह दस्तूर था कि 10 मुहर्रम को खाना बनाकर शाम के वक़्त ख़ानक़ाहों में और घरों में भेजा जाता। क्योंकि हम छोटे थे तो दाई और घर में काम करने वाले लोग अपने सर पर खाने का तश्त रखते और उनके साथ-साथ हम भी ख़ानक़ाहों में और घरों में जाकर यह खाना पहुंचा देते थे।"

यह दस्तूर, यह तौर-तरीका इस शहर के पुराने खानवादों में अभी मौजूद है। पटना की रहने वाली तनवीर बानो साहिबा बताती हैं की घरों में होने वाली ज़नानी यानी औरतों की मजलिस में मुसलमान औरतों के साथ हिंदू औरतें आज भी शामिल होती हैं।

"मुहर्रम में सुहाग की निशानियां जैसे चूड़ियां और ज़ेवर उतार दिए जाते हैं और यही वजह है कि जब हिंदू औरतें मजलिस में शामिल होती हैं तो वह अपने दुपट्टों से या अपने आंचल से अपने हाथ की चूड़ियां छुपा लेती हैं। अगर खुद नहीं आ पातीं तो अपने बच्चों को पाबंदी से मजलिसों में भेजती हैं और मजलिसों में बटने वाले तबर्रुक को प्रसाद की तरह समझती है और उसकी इज़्ज़त वैसे ही की जाती है। हमने आज तक नहीं देखा कि कभी किसी ने इसके लिए किसी को टोका हो। यह आम सी बात है जो लोग खुद समझते हैं और इसे अपने बुजुर्गों की तहज़ीब मानते हैं।"

बहुत मुमकिन है कि यह सारी चीजें, यह सारी बातें सुनने या पढ़ने वालों को क़िस्सा या अफ़साना लगें। मगर इन बातों की सच्चाई का अंदाज़ा आप सिर्फ इस से लगा सकते हैं कि हर बरस 10 मुहर्रम के जुलूस में ये नामुमकिन है कि पश्चिम दरवाज़े के अशोक स्टोर और नेशनल स्टोर के लोग अपने हाथों में बड़े-बड़े फ्रूटी के डिब्बे, कोल्ड ड्रिंक और तरह-तरह के जूस के डिब्बे लिए मातम करने वालों और अज़ादारों के बीच तक़सीम करते नज़र न आएं।

मुल्क के बदलते हालात, बदलती राजनीति और कट्टरपंथी या रूढ़िवादी विचारधारा की चपेट में ऐसी न जाने कितनी हक़ीक़तें अफ़साना बनकर रह गईं। बार-बार यह कहकर छोड़ दिया जाना कि 'हम अलग हैं, वो अलग हैं', 'हम यहां के हैं, वो बाहरी हैं', 'हमारा धर्म अलग है, उनका मज़हब अलग है' – इन बातों ने सदियों पुरानी संस्कृति, बरसों पुरानी मिली-जुली तहज़ीब, एकता और यकजहती में फूट कराने में कोई कसर नहीं छोड़ी।

मगर इसके बावजूद अगर लोग एक दूसरे के ग़म में शामिल हो रहे हैं, बच्चे एक-दूसरे को पुकार कर मजलिसों में ले जा रहे हैं और नौरोज़ होली के रंग में रंग चुका है। दीपावली के मेलों और दशहरे पर रावण दहन में मुसलमान की आमद-ओ-रफ़त में कोई फ़र्क नहीं आया है, हिंदू अब भी अपने इमामबाड़ों में सिपर और ताज़िये सजाते हैं।

आज का पटना इस बात की मिसाल है कि जो नस्ल इस माहौल में पले-बढ़ेगी, जो गंगा जमुनी तहज़ीब की विरासत की अमानतदार होगी, जिसके सामने बार बार इस मिली जुली संस्कृति की तारीख़ दोहराई जाती रहेगी, वो हर हाल में इस तहज़ीब को अपने सीने से लगाए रखेगी। अब चाहे जितने ही नफ़रत के सांचे में ढले नारे लगाए जाएं, सरकारें अदावत के बीज बोती रहें – वो फूल खिल के रहेंगे जो खिलने वाले हैं।

परिशिष्ट-1

शब्दार्थ

अइज़्ज़ा-ए-ख़ास	—	ख़ास रिश्तेदार
अक्कासी	—	प्रतिबिंबित होना
अज़ादारी	—	हजरत हुसैन की शहादत का ग़म
अफ़ज़ल	—	बेहतरीन
अयाल	—	औलाद
आरास्ता	—	सजा हुआ
आशकारा	—	जाहिर होना
आशूर	—	मुहर्रम की 10वीं तारीख़
इख़्तेयार	—	चयन, अधिकार
इल्मी-ओ-अदबी तज़किरों	—	साहित्यिक विद्वान और संक्षिप्त जीवनी
इसतयारे	—	रूपक
इस्लाह	—	सुधार
एहतेजाज	—	विरोध
क़ज़ा	—	मौत
क़राबतदारी	—	निकटता, रिश्तेदारी
काविश	—	जलन, बैर, कोशिश, खोज
किश्त-ए-गम	—	ग़म की खेती
खानवादा, खानवादे	—	कुनबा
ख़ुतूत (ख़त का बहुवचन)	—	पत्र

ग़म-ए-आल-ए-नबी	—	नबी की आल-औलाद का ग़म
गिरयां	—	रोता हुआ
गुहर-बारी	—	मोती बरसाना
चमन आरा-ए-बाग़-ए-फ़र्दा	—	भविष्य के बाग का माली
चेहलुम	—	चालीसवां
जा-ब-जा	—	जगह-जगह
ज़ाविए	—	कोण
जावेदां	—	हमेशा
ज़ियारतगाह	—	तीर्थ-स्थल
ज़ेब-ए-दास्ताँ	—	दास्तान की शोभा
तक़इआ	—	अत्याचार के डर से सच छुपाना
तबर्रुक	—	प्रसाद
तर्क	—	छोड़ना
तानाज़न	—	ताना कसना
दख़ील	—	शामिल
दामन-ए-अब्र-ए-बहारी	—	बसंत ऋतु के बादल का दामन
दीदा-ए-तर	—	भीगी आंख
दुर-अफशां	—	मोती बिखेरती हुई
नीज़ह, नीजै	—	भाला
नोहा-ख़वानी	—	शोकगीत
पैवसत	—	अंदर घुसा हुआ
फतुहात	—	जीत
फ़ातिहा	—	आरम्भ, कुरान की पहली सूरा, मृतक की आत्मा की शांति के लिए कुरान की आयतें पढ़ना
ब-यक-वक़्त	—	एक ही समय में
बाज़ाबता	—	बाक़ायदा
बोसीदा	—	सड़ा-गला / फटा-पुराना
मख़सूस रिवायत	—	विशेष परंपरा
मरकज़	—	केंद्र
मसलक	—	पंथ

मस्ख़	—	बिगाड़ना
मुआशरे, मुआशरा	—	समाज
मुख़ालेफ़त	—	असहमति/विरोध
मुख़्तसर	—	संक्षिप्त/सार-रूप/खुलासा
मुत्मइन	—	संतुष्ट
मुलाज़मत	—	नौकरी
शब्बीर	—	हजरत हुसैन
शुजाअत	—	बहादुरी
शैदाई	—	फिदा होने वाला, न्यौछावर होने वाला
सक़ाफ़ती	—	सांस्कृतिक
सक्का	—	पानी पिलाने वाला
साज़गार	—	अनुकूल
सिपर	—	ढाल
सोज़-ख़वानी	—	मर्सिया पढ़ने का एक ढंग
हक़-ओ-सदाक़त	—	सच और सच्चाई
राहबर ए जादा ए ईमां	—	ईमान का रास्ता बताने वाला

परिशिष्ट-2

चित्रावली

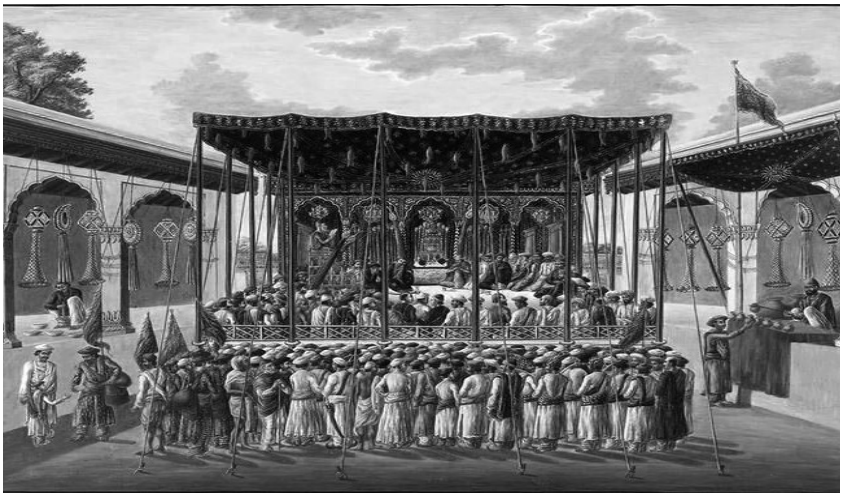

पटना इमामबाड़े में मजलिस की एक तस्वीर

मुहर्रम की 10वीं तारीख
का जुलूस

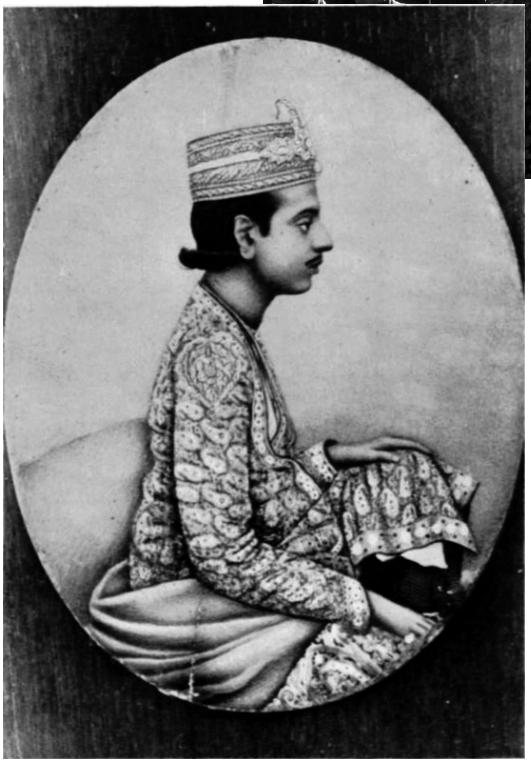

राय सुल्तान बहादुर का चित्र
शिवदयाल लाल द्वारा

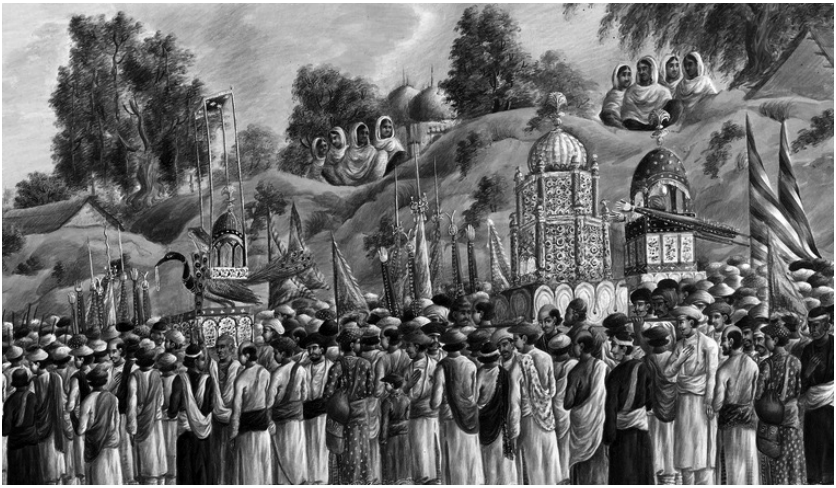

पटना में मुहर्रम का जुलूस

पटना में मुहर्रम का जुलूस

पटना के कब्रिस्तान कच्ची बाग में मीर मुहम्मद नासिर की कब्र -
नवाब बुरहान-उल-मुल्क (अवध के पहले नवाब) के पिता

धवलपुरा की कोठी में सिपर

इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नंबर-110, नम्बरदार हाउस,
62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067
टेलीफोन - 011-26177904 टेलीफैक्स - 011-26177904
ईमेल - prakashan.isd@gmail.com
वेबसाइट - isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए